समकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य का रंगशिल्प

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता :

तेजिन्दर वार्ष्णेय

निर्देशिका :

डा० कुसुम वार्ष्णेय

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

विनिवेदन

साहित्य के अध्ययन में कविता उसकी केन्द्रीय विधा है- यह सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत भाव-चेतना मेरे बाल मन पर अंकित हो चुकी थी और साहित्य सर्जकों तथा आलोचकों एवं विद्वान मनीषी गुरुओं की व्याख्याओं, व्याख्यानों ने इस सत्य का साक्षात्कार भी बार-बार कराया है । इसी के समानान्तर विद्यार्थी जीवन से ही मेरे मन में नाटक और रंगमंच से एक जुड़ाव और फिर आकर्षण बढ़ता ही गया, नाटकों की किताबें एक तो कम आती हैं, कम से कम छपती हैं, कम लिखी जाती हैं और कमतर पढ़ी जाती हैं । लोकनाट्य अपनी भावुकता और संवेदना में साहित्य की किसी भी विधा से अधिक लोकप्रिय है । रंगमंच आज हिन्दी के नाटक साहित्य के विकास की अवधारणात्मक और व्यवहारिक रचना प्रक्रिया है, इसमें कल्पना शक्ति का अपार वैभव और लोकानुभव दोनों तत्व समान रूप से अनुस्यूत होते हैं ।

भारतीय नाट्य शास्त्र में नाटक को विश्रान्ति से उबरने का सशक्त माध्यम कहा गया है और रूपक को "रूपा रोपात्तुनाटकम्" । संस्कृत-साहित्य में महा कवि भवभूति, भास, शूद्रक और कालीदास ने कालजयी नाट्य रचनायें की हैं । हिन्दी नाटक रचना-संसार अपने समय और समाज की अपने परिवेश की पहचान और परख से लबरेज है । हिन्दी नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, पं0 लक्ष्मी नारायण मिश्र और सर्वाधिक मोहन राकेश का बड़ा ऋणी है । राकेश ने नाटक को रंगमंच की आवश्यकता के अनुरूप नये आयाम तथा अभिनव गवाक्ष प्रदान कर उसको देश-काल-परिस्थिति {संकलनत्रय} की अनुरूपता प्रदान की । आगे चलकर डा0 लक्ष्मी नारायण लाल, उपेन्द्र नाथ अश्क, डा0 राम कुमार वर्मा, भुवनेश्वर और विनोद रस्तोगी आदि ने रंगमंचीय आवश्यकता के अनुरूप इस विधा के विकास में अन्यतम योगदान प्रदान किया है । इस क्षेत्र में रेडियो-नौटंकी और रेडियो एकांकी-रेडियो रूपक का योगदान महत्वपूर्ण है । अतीत की झांकी से शुरू यह विधा आज साहित्य-सर्जन तथा सामाजिक परिवेश का जीवन्त दस्तावेज है । इस लम्बी यात्रा का समेकित और समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का अभिष्ट है ।

शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में नाटक एवं रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की विवेचना की गई है और इस सन्दर्भ में मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले जीवन्त नाटकों की एक ऐसी कोटि का समीक्षण किया गया है जो दृश्य न होकर श्रव्य है जिसमें अभिनेता आंगिक अभिनयन कर वाचिक अभिनय से प्रभाव उत्पन्न करता है । इसमें इस बात की विवेचना की गई है कि लिखित नाटक रंगमंच से जुड़कर किस प्रकार नयी अर्थवत्ता से

क्रमशः-----2

आपूरित हो उठता है और नाट्य लेखक-अभिनेता आदि मिलकर किस प्रकार प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि करते हैं । दूसरे अध्याय में रंगशिल्प के रूप-स्वरूप की ऐतिहासिक विवेचना विस्तार से समेकित करने की विनम्र चेष्टा के क्रम में भारतीय एवं पाश्चात्य §मुख्यत: यूनानी नाटक§ रंग शिल्प को उभारने तथा भारतीय रंगशिल्प के प्रतिनिधित्व को उजागर किया गया है । इसमें भरत मुनि के नाट्य शास्त्र को आधार बनाकर विस्तृत विवेचना का उपक्रम है । शोध-प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में रंगमंच के विविध आयामों जैसे- दृश्य संरचना, वेश-भूषा एवं रूप-विन्यास, प्रकाश-संयोजन एवं ध्वनि-संयोजन तथा संगीत योजना, प्रेक्षागृह एवं प्रस्तुतिकरण की सम्यक विवेचना का उपक्रम है । इसमें मेकअप, ध्वनि-प्रभाव तथा नाट्यशालाओं के विकास की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई है । इसमें भारतीय लोक नाट्य और यूनानी नाटकों की प्रस्तुति को रंगमंच के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया है ।

चौथे अध्याय में हिन्दी रंगमंच के विकास-क्रम को दर्शाने के उपक्रम में संस्कृत नाटकों से लेकर भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग, प्रसादोत्तर-युग और अधतन आधुनिक युगीन रंग-चेतना की पड़ताल प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार समकालीन नाट्य चेतना की संवेदना और शिल्पगत वैशिष्टय को रंगशिल्प के सन्दर्भ में विवेचित करके अधतन पड़ताल करके विषय-वस्तु को "अप टू डेट" करने का पूरा प्रयास किया गया है । इस शोध प्रबन्ध के इस रूप में सज्जित होने और प्रस्तुत करने में अनेकानेक स्थानों पुस्तकालयों और लोक-चेतना तथा नाट्य-समीक्षकों और रंग कर्मियों का बहुत बड़ा योगदान है जिनका स्मरण बार-बार स्वभावत: हो उठता है । शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने में अधिक समय लगा है जिसकी स्मृति बड़ी मधुर, कटु एवं कषाय है । इसमें सर्वाधिक योगदान मेरे जीवन-सहचर और साथी श्री कमल कुमार वार्ष्णेय, अभियन्ता, दूरदर्शन केन्द्र, इलाहाबाद और मेरी दोनों बेटियों अंकिता और अन्विता का है, जिन्होंने प्रेरणा-प्रोत्साहन तो प्रदान किया ही है, कष्ट सहकर काशी हिन्दू विश्वविधालय, संगीत नाटक अकादमी लखनऊ तथा नई दिल्ली तक की कई बार यात्राएं की हैं और वहां रूक-ठहर कर मुझे अध्ययन तथा सामग्री-संकलन के लिए समय और सुविधाएं प्रदान की हैं । इस काल में श्री वार्ष्णेय जी ने अपनी चुहल, चुटीले हास्य तथा अपने अनेक मित्रों के साक्षात्कार और गहन परिचय का आत्मीय अवसर उपलब्ध कराया है जिनकी स्मृतियां बड़ी साधु हैं । वे क्षण धन्य हैं और जीवन की महत्तर उपलब्धि भी ।

क्रमश: ------3

इस सन्दर्भ में आदरणीय श्री नेमिचन्द्र जैन तथा प्रसिद्ध नाट्य निर्देशिका डा० §श्रीमती§ गिरीश रस्तोगी- प्रोफेसर हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय सामग्री-संकलन तथा विवेचन-विश्लेषण और विमर्श का अवसर देकर मेरा बार-बार उत्साह-वर्द्धन किया है-इनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

अनुज कल्प श्री रामचन्द्र शुक्ल ने शोध-प्रबन्ध के लेखन के दौरान मेरे साथ अपना बहुत सारा समय जाया किया है उनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकता होगी । गीतावाटिका §गोरखपुर§ और उसमें आयोजित होने वाली रासलीलाओं की स्मृति-अनुस्मृति और उसकी गूंज-अनुगूंज आज भी मेरी जेहन में बजती है, लोक नाट्य और लोक संस्कृति का बड़ा ऋण-उपकार अनुभव करती हूँ । जो लोकचित्त की खेती है ।

शोध प्रबन्ध की निर्देशिका डा० कुसुम वार्ष्णेय से बड़ा स्नेहिल सहयोग मिलता रहा है- बिना उनके सहयोग के यह कार्य असम्भव था । उन्होंने दुस्तर को सुकर बनाकर सारी विघ्न-बाधाओं को दूर करने-कराने में अपनी समर्थ भूमिका का सम्यक् और सहर्ष निवर्हन किया है- उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता से आनत हूँ ।

इस शोध-प्रबन्ध में जो कुछ भी अच्छा बन पड़ा है वह भारतीय-मनीषा का प्रसाद है और जो अनबना और अटपटा है वह मेरी शक्ति-सीमा आगे इस कार्य को और बढ़ाने की योजना है इसलिए सुधीजन इसकी सीमाओं पर अपने सुझाव देने का अनुग्रह करेंगे जिनका स्वागत और समादर करूँगी ।

अन्त में मैं उन नाम-अनाम, ज्ञात-अज्ञात विद्वज्जनों की इस विधा के विश्लेषण-समीक्षण कार्य को नमन करती हूँ जिनसे रस लेकर विषय को विरस होने से बचाया है ।

इतिशम् ।

तेजिन्दर वार्ष्णेय

दिनांक: तेजिन्दर वार्ष्णेय

समकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य का रंगशिल्प

	विषय सूची	पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

- नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

प्रथम अध्याय

नाटक और रंगमंच का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध:

नाटक और अन्य साहित्यिक विधाओं के बीच एक बुनियादी अन्तर है । अन्य साहित्यिक विधाओं में रसग्रहण के लिए मात्र सर्जक एवं पाठक का होना अनिवार्य है, जबकि नाटक के लिए सर्जक, उस सर्जना को अभिनय के माध्यम से रूप प्रदान करने वाला अभिनेता एवं दर्शक, तीनों महत्वपूर्ण होते हैं । अन्य साहित्य रूपों के पाठक के मानस में पुस्तक में छपे हुए अक्षरों को पढ़कर अपने आप ही मूर्ति विधान होता चलता है अर्थात् दृश्य उसके मानस चक्षुओं के समक्ष आते जाते हैं जबकि नाटक में वही दृश्य अभिनेता द्वारा साकार रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं । इसलिए नाटक में इस दृश्य तत्व को प्रस्तुत करने में सहायक तत्वों- दृश्य संरचना, रंग संरचना, प्रकाश संयोजन, ध्वनि संयोजन, मंच व दृश्य की पृष्ठभूमि, वस्त्र एवं प्रसाधन एवं अभिनेता- की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । इसलिए स्वाभाविक रूप से नाटक के प्रस्तुतीकरण में रंगमंच की भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाती है ।

"नाटक" शब्द का प्रयोग वर्तमान समय में लिखे हुए नाटक व खेले जाने वाले नाटक दोनों के लिए होता है । नाटक का स्वरूप समय के साथ व्यापक होता गया है । रेडियो व टेलिविजन के आविष्कार के बाद रेडियो व टेलिविजन नाटकों की एक नयी शैली का विकास हुआ है । यह विस्तार नुक्कड़ नाटक व बिना मंच के प्रस्तुत किये जा रहे अन्तःकक्षीय नाटकों तक फैलता चला गया है । यही नहीं साहित्य की अन्य विधाओं- कहानी, उपन्यास आदि- के नाट्य रूपान्तर व उनके प्रस्तुतीकरण ने भी नाटक को व्यापकता व महत्व प्रदान किया है । इसलिए नाटक और रंगमंच के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते समय उपरोक्त नाटकों की विभिन्न कोटियों व उनके लिए आवश्यक भिन्न प्रकार के रंगमंच की आवश्यकता को नजरंदाज नहीं किया जा सकता । चलचित्रों के आविष्कार के बाद सिनेमा नाटक एक अत्यन्त सशक्त माध्यम बनकर उभरा है । सिनेमा नाटक के प्रभाव को देखते हुए नाट्यालोचकों ने एक समय यह घोषणा तक की कि सिनेमा नाटक, रंगमंच द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले "जीवंत" नाटकों को समाप्त ही कर देगा, पर ऐसा हुआ नहीं । सिनेमा नाटक लगभग पूर्णत: तकनीकी प्रस्तुतीकरण है । यद्यपि यहाँ भी अभिनेता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । पर अभिनेता कैमरे के समक्ष अपने अभिनय में परिवर्तन व परिष्कार करने के लिए स्वतंत्र

होता है । बार-बार मांजने के बाद प्रोजेक्टर व प्रकाश के माध्यम से जो प्रस्तुति पर्दे पर दर्शक को दिखाई पड़ती है वह एक संस्था का सम्मिलित प्रयास होता है जिसे काट-छांट कर व साज-संवार कर पर्दे पर प्रस्तुत किया जाता है । इसीलिए दृश्यों में जो अन्तरंगता व निजीपन सिनेमा नाटकों के माध्यम से सम्भव हो जाता है, वह रंगमंचीय नाटकों के द्वारा नहीं । चूंकि रंगमंचीय नाटक में प्रेक्षक अभिनेता के समक्ष हरदम मौजूद रहता है इसलिए उसे हमेशा एक सीमा स्वीकार करके अभिनय करना होता है । परन्तु रंगमंचीय व सिनेमा नाटक में भी एक बुनियादी अन्तर है । वह यह कि सिनेमा नाटक के एक रूप के पर्दे पर आ जाने के बाद उसमें परिवर्तन व परिष्कार की सारी सम्भावनाएं समाप्त हो जाती है, जबकि रंगमंचीय नाटक के माध्यम से वही प्रस्तुतियां बार-बार देखने के बाद और अधिक रसग्रहण में सहायक हो सकती हैं । इसलिए रंगमंचीय नाटक एक जीवित और जीवंत कला है जिसके द्वारा पाये जाने वाले आनन्द की कोई सीमा नहीं, जबकि सिनेमा नाटक एक रूप ले लेने के बाद उसी रूप में रूढ़ या जड़ हो जाता है ।

रेडियो नाटकों की बात छोड़ दी जाये- जो कि श्रव्य-तत्व-प्रधान है और जहां माध्यम रेडियो स्टेशन का स्टूडियो व माइक्रोफोन होता है- तो अन्य सभी नाटकों के लिए किसी न किसी रूप में रंगमंच एक अनिवार्य आवश्यकता है । इसलिए रंगमंचीय नाटक के किसी भी विश्लेषण व अध्ययन के लिए रंगमंच एवं नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है । प्रस्तुत अध्याय में नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का विवेचन उपर्युक्त नाट्य रूपों को ध्यान में रखकर किया गया है । रंगमंच की अवधारणा नाटक के लिए अत्यन्त प्राचीन एवं महत्वपूर्ण रही है । रंगमंच के बिना नाटक की सार्थकता और प्रासंगिकता आज भी सम्भव नहीं है । साहित्यिक विधाओं में नाटक इसीलिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है क्योंकि इसे रंगमंच के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है । सम्भवत: इसीलिए नाटक को त्रिआयात्मक विधा के रूप में रेखांकित किया जाता है । इसमें नाट्यकृति, प्रस्तुतीकरण एवं प्रेक्षक तीनों का समन्वय नाटकीय प्रभावशीलता के लिए अपेक्षित है । नाटक रंगमंच के माध्यम से पुनर्निर्मित एवं पुनर्सजन पाता है जिससे उसकी सम्प्रेषणीयता में वृद्धि होती है । इसीलिए नाट्यकला के प्राचीन

आचार्यों से लेकर आधुनिक समीक्षकों तक ने रंगमंच एवं नाटक के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को बार-बार रेखांकित किया है ।

नाटक की व्यापकता के सम्बन्ध में भरत मुनि का कहना है कि "न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या है, न योग है, न कर्म है जो इस नाटक में न देखा जाता है ।" x नाटक में जीवन का इतना सटीक अनुकरण होता है कि उससे कुछ भी छूट नहीं पाता इस दृष्टि से इसमें अनेक कलाओं का समाहार पाया जा सकता है । समाज का ऐसा कोई प्रबुद्ध और गैर प्रबुद्ध वर्ग नहीं है जो इस कला के प्रभाव से मुक्त हो । सभी प्रकार की रुचि वाले लोग नाटक में समान आनन्द का अनुभव करते हैं । इस तथ्य का स्पष्टीकरण कालिदास ने "माल विकाग्नि मित्र" नाटक के प्रथम अंक में गणदास के माध्यम से कराते हुए लिखा है कि "भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए नाटक ही ऐसा रंजन है जिसमें सभी को आनन्द मिलता है" ।xx आनन्द प्राप्ति का कारण यह है कि सभी मनुष्यों को अद्भुत दृश्य तथा जीवनानुभूतियों का अनुकरण देखने में बहुत कुछ उपलब्ध होता है ।xxx नाटक का दृश्य होना ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है जिससे दर्शक को कथात्मक आनन्द ही नहीं सभी पात्रों तथा स्थितियों का आन्तरिक साक्षात्कार भी हो जाता है । रंगमंच को माध्यम रूप में प्रयोग करने के कारण ही नाटक को "प्रयोग विज्ञान" कहा गया है ।xxxx रंगमंच से विच्छिन्न नाटक संवादात्मक कथा मात्र है । रंगमंच के माध्यम से नाटक सभी कथाओं की परिकल्पना का आनन्द एक साथ प्रस्तुत करते हुए लोकरंजन करता है । नाट्यशास्त्र के प्रथम अंक में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है ।xxxxx

---

x "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगोन तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते ।।" – ना0शा0, 1/116

xx नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुध्याप्येकं समाराधनम् ।" –"मालविकाग्निमित्रं ,अं0 1

xxx "आनंदनिष्पन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्ति मात्रं फलमल्प बुद्धि: ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम: स्वादुपराङ्मुखाय ।।"–धनंजय, "दशरूपक" 1/

xxxx "आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम् ।"–कालिदास, अभिज्ञान शाकुंतलम–1

xxxxx वेद विधेतिहासानामाख्यान परिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोक नाट्य मेतद् भविष्यति ।।– ना0शा0 1/120

नाट्यवेद को पंचम वेद घोषित करते हुए भरत मुनि ने इसे देवता, मनुष्य, असुर सभी चरित्रों का अनुकरण स्वीकार किया है ।x उन्होंने नाटक की कथावस्तु को तीनों लोकों के भावों का अनुकरण माना है ।xx नाट्यशास्त्र में रंगमंच की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की गई है । रंगमंच की उनकी सम्पूर्ण कल्पना से स्पष्ट है कि उन्होंने रंगमंच और नाटक की अन्योन्याश्रितता को कहीं भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है ।

संस्कृत नाटककार नाट्यलेखन के प्रारम्भ से ही नाटक को रंगमंच की वस्तु मानकर चले हैं । भले ही उनके नाटकों को उपयुक्त रंगमंच न मिला हो किन्तु वे रंगमंच की अपेक्षा को बराबर समझते-समझाते रहे हैं । इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ0 रघुवंश ने "नाट्यकला" नामक अपने ग्रंथ में लिखा है कि "भारतीय [illegible] आचार्यों की दृष्टि यदि विश्लेषणात्मक वर्गीकरण की ओर अधिक रही है तो साथ ही वह संश्लेषणात्मक व्यापक विवेचना करने में भी अनुपमेय है । यदि उन्होंने रूपों के शारीरिक प्रदर्शनों के विभेद उपस्थित करने में सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है तो रूपक की व्याख्या और रूपरेखा भी बहुत योग्यता से प्रस्तुत की है ।xxx भरत मुनि ने ही तीनों नाटकीय आयामों-रचनात्मक, अभिनयात्मक तथा प्रभावात्मक- की विशद विवेचना की है । नाटक की संश्लिष्ट कलात्मकता, प्रभविष्णुता और संवेदन क्षमता का व्यापक दृष्टिकोण आचार्य ने यह कहकर स्पष्ट किया कि अनेक भावों से सम्पन्न, अनेक अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्तानुकरण ही नाटक की मूल प्रकृत्यात्मक गति है ।xxxx

नाट्यकृति के रूप मेंइतिवृन्त एवं अनुकरण के रूप में प्रदर्शन में रंगमंच के बहुस्तरीय संकेत हैं । धनंजय ने नाटकीय कथावस्तु के कलात्मक प्रभाव और प्रेक्षक की अनिवार्यता के संकेत नाटकीय रूपरेखा को पारदर्शी स्थिति में लाने के लिए ही किए हैं ।

---

x वही 1/117
xx वही 1/118
xxx डॉ0 रघुवंश-"नाट्यकला" पृ0- 7
xxxx नाना भावोप सम्पनं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोक वृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्ययाकृतम ॥1- ना0शा0 1/112

भाव के रूप में रस, वृत्त के रूप में रचना, अनुकरण के रूप में अभिनय, रस के रूप में भाव सबको मिलाकर ही धनंजय ने नाट्य की सृजनभूमि स्वीकृत की है।x नाट्य कला सृजनात्मक अभिव्यक्ति का वह रूप है जिसमें नाट्यकृति का रंगमंच पर अभिनेताओं, रंगशिल्पियों की सहायता से दर्शकवृन्द के समक्ष प्रस्तुतीकरण होता है। यह प्रस्तुतीकरण कभी नृत्यमूलक, संवादमूलक, संगीतमूलक तथा कभी समन्वित रूप से युक्त होता है। नाटक का पाठ्य रूप काम्य न होकर दृश्य रूप ही वांछित रहा है। अनेक कलाओं की रूपगत संश्लिष्टता, जटिलता, तनावों तथा प्रभावों को झेलकर बनी इस विधा की सार्थकता रंगमंचीयता में ही निहित है। "नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे अधिक कुछ और भी है, क्योंकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होती, उसका पूर्ण प्रस्फुटन और सम्प्रेषण रंगमंच पर जाकर ही होता है। रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्राण प्रतिष्ठा के बिना नाटक को सम्पूर्णता प्राप्त नहीं होती, और इसलिए रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन या उसके विविध अंगों या पक्षों पर विचार अपूर्ण ही नहीं भ्रामक भी है। संसार में नाटक साहित्य के इतिहास में कहीं भी नाटक को रंगमंच से अलग करके केवल साहित्य रचना के रूप में नहीं देखा जाता और रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं के पारखी ही नाटक के असली समलोचक होते हैं और माने जाते है।xx

इधर कुछ लोगों ने पढ़ने योग्य साहित्यिक नाटकों को नाटक §ड्रामा§ और खेलने योग्य सर्वबोधक नाटकों को खेल या मंच खेल §प्ले या स्टेज प्ले§ कहना प्रारम्भ किया है। किन्तु नाटक तो नाटक होता है। अर्थात् उसमें काव्यत्व भी होना चाहिए और दृश्यतत्व भी। ललित और लाक्षणिक---भाषा शैली से बोझिल संवादों को दृश्यों में

---

x अवस्थानुकृतिनाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपाद् दशाधैव रसा श्रयम॥- धनंजय: दशरूपक 1/7

xx नेमिचन्द्र जैन रंगदर्शन, पृ0 15

विभाजित करने मात्र से कोई रचना नाटक नहीं कही जा सकती । वास्तव में वही रचना नाटक कहला सकती है जो इस कौशल से लिखी गई हो कि अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा उसे रंगमंच पर लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करके उनके हृदय में रस की निष्पति करे । इसलिए कुछ लोगों का मत है कि अभिनेय नाटक वह है जो नटसिद्ध अर्थात् ऐक्टरप्रूफ हो अर्थात् चाहे जैसे अभिनेताओं को दे दिया जाए, वह सफल हो । आजकल इससे भिन्न वे पठनीय नाटक §क्लोजेट- ड्रामा§ भी हैं जो खेले जाने के लिए नहीं पढ़े जाने के लिए ही लिखे जाते हैं ।× किन्तु इस प्रकार की रचनाएं "नाट्य" के अन्तर्गत नहीं आतीं, उन्हें नाटकीय कथा तो कहा जा सकता है, किन्तु उनमें "नाट्य" और "रूप" नहीं होता । नाटक के दो पक्ष होते हैं- काव्य रचना और प्रयोग, इसमें साध्य है रस, और साधन है अभिनय, संवाद तथा संगीत आदि । निमित्त है नटभोक्ता है दर्शक, आधार है । कथा और इन सबका प्रयोग करने वाले हैं नाट्यकार और नाट्य प्रयोक्ता ।×× नाट्य की उत्पत्ति बताते समय ही भरत मुनि ने नाट्य-प्रयोग की चर्चा की है । इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्माजी से जाकर कहा कि आप ऐसी कृति सृजित करें जो सुनी भी जा सके, खेली भी जा सके, देखी भी जा सके ।××× इसी दृष्टि से ब्रह्मा ने इस नाट्यवेद की रचना की ।

आधुनिक रंगकर्मी लक्ष्मी नारायण लाल ने लिखा है-"नाट्य कृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण हैं, दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक और यहाँ तक कि एक दूसरे के पर्याय भी हैं ।××××

रंगमंच की आत्मा है नाट्य और उसकी मूल प्रकृति है अभिनयात्मक । जीवन एक रंगमंच है जिस पर मनुष्य के सभी कार्य प्रदर्शित किए जाते हैं इसलिए भी नाटक

× सीताराम चतुर्वेदी "भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ0 40

×× वही पृ0 42

××× क्रीडनीयकामिच्छामो दृश्यं श्रव्यं चयद्भवेत्।। ना0शा0 ।।/।

×××× डा0 लक्ष्मी नारायण लाल- रंगमंच और नाटक की भूमिका- पृ0 15

और रंगमंच पर्याय हैं । डा0 रघुवंश ने इस स्थिति पर विचार करते हुए लिखा है-"नाट्य की कलात्मक अभिव्यक्ति समस्त उपकरणों के साथ रंगमंच पर नाट्य प्रदर्शन है और वह भी दर्शकों की निश्चित परिकल्पना के साथ ।x

आज नाटक और रंगमंच के अंतर्विरोधों की नये ढंग से व्याख्या की जा रही है । इसी दृष्टि से "नये" रंगमंच के उदय में एक मात्र दिशा है पहले नाटककार की अपनी सही रंगदृष्टि । आधुनिक रंगमंच ने उस क्षेत्र में आज अपने विकसित रंगशिल्प से अपनी प्रस्तुतीकरण कला से यह सिद्ध कर दिया है कि नाटक लिखना लेखक की अपनी एकांत कला नहीं है, वरन् नाटक लेखन वस्तुत: नाटककार से प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक की मांग करता है । धर्मवीर भारती ने कहा है कि नि:संदेह नाटक एक सहकारी कला है, लेकिन वह सहकारिता उसी लेखक और परिचालक में सम्भव हो पाती है जहां बुद्धि और प्रतिभा सुरुचि और संस्कार की पूंजी समान हो ।xx नाटक प्रेक्षक और समीक्षक पर वक्तव्य देते हुए डा0 नगेन्द्र ने भरत मुनि के रस सूत्र में ध्वनित नाट्य एवं रंगमंच के सम्बन्ध में कहा है- इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र के विकास के आरम्भिक युग में रस का अर्थ नाट्य, रस ही था और उसकी सिद्धि रंगमंच पर ही मान्य थी । भरत के अनुसार रस का अर्थ था "एक ऐसी भाव प्रधान कलात्मक स्थिति जिसकी सृष्टि नाट्य उपकरणों के माध्यम से रंगमंच पर होती थी ।xxx

देखा जाए तो हमारी नाट्यकला के विकास में बाधा केवल यही नहीं कि हमारा नाटककार रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान से रहित है वरन् यह भी है कि हमारे सूत्रधार और अभिनेता साहित्य के भव्यतर संस्कारों से वंचित हैं । अत: जब हम सहयोग

---

x डा0 रघुवंश "नाट्यकला", भूमिका

xx डा0 धर्मवीर भारती, लेख, "हिन्दी नाट्य लेखन, पुस्तक हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख डा0 इन्द्रनाथ मदान पृ0 194

xxx अनामिका द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य-महोत्सव की दर्शक समीक्षा गोष्ठी के अध्यक्ष पद से वाचित, कलकत्ता दिसम्बर 1964 संकलित आस्था के चरण पृ0 192

की बात करें तो इस बात को न भूलें कि नाटक मूलत: साहित्य का ही रूप है और अधिक समृद्ध रूप- इसीलिए रंगमंच के विकास की योजनाएं मूलत: साहित्य को ही आधार मानकर कार्यान्वित करनी चाहिए ।×

नाटक और रंगमंच के पारस्परिक सम्बन्ध को आधुनिक नाटककार मोहन राकेश ने अनेक प्रकार से व्याख्यासित-विश्लेषित किया है । नवीन रंगकला के सम्बन्ध सूत्रों को अधुनातन सन्दर्भों में उद्घाटित करते हुए उन्होंने लिखा है-"नाटककार और परिचालक के बीच जिस सम्बन्ध सूत्र के उत्तरोत्तर दृढ़ होने पर ही हमारी निजी रंगमंच की खोज निर्भर है, उसमें उसी को झटक देने की दृष्टि लक्षित होती थी । रंगमंच की पूरी प्रक्रिया में नाटककार केवल एक भव्यागत, सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार नहीं, न तो यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता उसकी अपनी चारदीवारी तक सीमित रहे और क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता उससे दूर अपनी चारदीवारी तक । इन दोनों को एक धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार "पूरी" रंग प्रक्रिया का अनिवार्य अंग बन सके, उस प्रक्रिया को अपनी प्रयोगशीलता के अगले चरण के रूप में देख सकें ।×× यहां लेखक का अभिप्राय नाटक की प्रक्रिया को रंगमंच की प्रयोगशीलता के साथ जोड़ने की संभावनाओं से है ।

रंगमंच से प्रतिबद्ध होकर पाश्चात्य नाट्य साहित्य अनवरत गति से विकासोन्मुख होता रहा है । धार्मिक परम्परा से आरम्भ होकर यूनानी नाट्य रचना

× श्रेष्ठ नाट्य : नाटक और अभिनय इन दो तारिकाओं के युगल नृत्य के समान होता है । उसमें जिस तरह से वे दोनों एक दूसरे के अधीन होते हैं उसी तरह एक दूसरे के स्वामी भी होते हैं, जिस तरह मंच के बारे में ज्ञान न होने पर अभिनय पद्धति के सम्बन्ध में ज्ञान न होने पर श्रेष्ठ नाटक रचना सम्भव नहीं, उसी तरह साहित्य की पद्धति कुछ-कुछ जाने बिना नाटककार के प्रच्छन्न सके तो करें । पकड़ने की क्षमता के बिना श्रेष्ठ अभिनय भी सम्भव नहीं । शेक्सपियर ने अभिनय प्रति अपनी श्रद्धा सशक्त अभिनय के उपर्युक्त नाटक लिखकर प्रगट की ।" शंभुमित्र लेख, नाट्याभिन्नता, पत्रिका नटरंग खंड 7 अंक 25 जनवरी-जून, 1975 पृ0 4।

प्रारम्भ सेही व्यावहारिक रंगमंच से जुड़ी रही । थेस्पिस सोफोक्लीज, यूरिपिडीज, एस्किलस तथा एरिस्टोफिनीज सभी के नाटक एटिक थियेटर की शक्तियों एवं सीमाओं के अनुकूल स्वरूप में निर्मित हुए हैं । यूनानी त्रासदी की प्रमुख प्रवृत्तियां बहुत कुछ यूनानी नाट्यशाला तथा प्रस्तुतीकरण की पद्वतियों और परिस्थितियों के अनुरूप स्वरूप ग्रहण करती है । त्रासदी के रूप §फॉर्म§ की सरलता, संवादों में वक्तृत्व कला की अधिकता, विशिष्ट पद्वति से पात्रों का नियमन, कार्य व्यापार में घटनात्मकता की अपेक्षा, वर्णनात्मकता की बहुलता, सभी कुछ तद्युगीन रंगकला एवं रंगशाला के सहज परिणाम हैं । उदाहरणार्थ-मुखौटे के प्रयोग के कारण तथा विशिष्ट प्रकार की भारी भरकम वेश-भूषा के कारण अभिनेताओं की भाव भंगिमाओं का प्रदर्शन सम्भव न था । चूंकि पूरा नाटक कोरस § Chorus § की उपस्थिति में ही घटित होता था और कोरस ही दृश्य के पीछे घटित घटनाओं की रंगमंच पर सूचना देता था, अतः स्थान एवं समय ऐक्य का निर्वाह अनिवार्य हो गया था ।x

इंग्लैंड में एलिजाबेथन नाटक तद्युगीन रंगमच की सीमाओं के भीतर ही निर्मित हुआ इसी कारण नाटक को रंगमंचीय परिस्थितियों के आधीन कला भी कहा गया है ।xx

---

x Since the action of the dramawas carried on from beginning to end in the presence of the Chorus, a band of witness, always the same, and remaining in the same place the poet- had scarcely any choice but to limit the scene to one spot, and the time to one day. Witzchel, the Athenian stage translation by Paul P. 43.

xx ... the immediate dependence of a Play wright is technique upon the histrionic methods and rescources of his time- Hudson W.H. An Introduction of the study of literature P. 178

गिरने वाले पर्दों § Drop curtain §, दृश्य परिवर्तन की सुविधाओं, विभिन्न प्रकार की प्रकाश व्यवस्थाओं के अभाव में शेक्सपियर के नाटकों का एक अपना विशिष्ट रंगमंचीय स्वरूप है जिसके कारण उनका अभिनय ऐलिजाबेथन रंगमंच के ऊपर जितना सफल होता है, उतना आधुनिक वैज्ञानिक सुविधा सम्पन्न रंगमंच पर नहीं । आज भी उन विशिष्ट सीमाओं के साथ यदि ये नाटक अभिनीत होते हैं तो रंगकला का एक विशिष्ट स्वरूप सामने लाते हैं । प्रवेश: प्रस्थान की मंच पर विशिष्ट व्यवस्था के अभाव में पात्रों के आगमन की सूचना नाटक में वार्तालाप के द्वारा दी जाती है तो ड्राप कर्टेन के अभाव में दृश्य परिवर्तन पात्रों के आवागमन एवं संवादों द्वारा प्रगट होता है ।

रंगमंचीय परिस्थितियों का प्रमुख बदलाव उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में आया । इसी समय पाश्चात्य रंगमंच पर निर्देशक § Producer Director § प्रगट हुआ । शेक्सपियर तथा सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी के नाटकों में दो ही होते थे- नाटककार और अभिनेता, किन्तु अब दृश्यात्मक प्रभावों के अधिक शक्तिशाली होने, गैस तथा बिजली की प्रकाश व्यवस्था की सुविधा होने तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों की उपलब्धि के साथ एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो नाट्यकृति के प्रस्तुतीकरण का नियामक हो सके । समय के साथ-साथ ही निर्देशक की स्थिति सामान्य से दृढ़ और दृढ़ से दृढ़तर होती गई, साथ ही उसका कार्य एवं दायित्व भी बढ़ता गया । उसके विस्तार पाते हुए कार्य-क्षेत्र से ही रंगकला §थियेट्रिकल आर्ट§ का विस्तार हुआ और अब स्थिति यह है कि प्रस्तुतकर्त्ता नाटक तथा अभिनेता दोनों को अलग की चरम सीमा तक पहुँच रहा है ।x

---

x (a) I believe in the time when we shall be able to create works of arts in the theatre without the use of the written play without use of action. P. 50

(b) We have to bauish from our mind all thought of the use of human form as the istrument which we are to use to translate what we call 'Movement', P. 53 E-Gordon Graig, on the Art of Theatre.

जहाँ भारतीय आचार्यों ने नाटक को अभिनय एवं रंगशाला की वस्तु माना था, यूरोप में इस सम्बन्ध को लेकर दो प्रकार के मत प्रचलित रहे। कुछ विचारक तो नाटक, अभिनय तथा रंगशाला को एक दूसरे के लिए अनिवार्य मानते हैं, किन्तु कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो नाटक को रंगमंच तथा रंगशाला से पृथक रखते हुए उसके कलात्मक एवं काव्यात्मक गुणों को अधिक महत्व देते हैं। प्रथम प्रकार के विचारकों की समृद्ध परम्परा है, दूसरे वर्ग में अरस्तू, क्रोचे आदि आते हैं जिन्होंने नाट्यकृति के काव्यात्मक वैशिष्टम को ही अधिक मान्यता दी है। अरस्तू को अपने समय तथा उससे पूर्व के नाट्य साहित्य का गम्भीर ज्ञान था तथा वे एथेंस की रंगशाला उसकी व्यवस्था एवं अभिनय प्रणाली से भी भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने प्रस्तुतीकरण पक्ष को त्रासदी का अंग भी माना।x क्रोचे ने तो अरस्तु से बहुत आगे बढ़कर रंगमंच की उपयोगिता को ही अमान्य घोषित किया। उनका विचार है कि नाटक की अभिव्यक्ति मन में होती है। अतः रंगमंच जैसा स्थूल साधन वांछित नहीं है। अरस्तु तथा क्रोचे प्रभृति आचार्यों से गहरा मतभेद रखते हुए उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के अनेक यूरोपीय नाट्य विशारदों ने नाटक के अस्तित्व को रंगमंच से पृथक माना ही नहीं है। सार्सी ने नाटक तथा रंगमंच को अभिन्न घोषित किया।

नाटक में जीवनानुकरण अभिनयात्मक तथा संवादात्मक होता है इसलिए "गति" को नाटक का प्राण तत्व माना गया है। संसार भर में "गति" तथा "क्रिया" से नाटक की उत्पत्ति हुई। भारत में यज्ञ, पूजा, नृत्य, नृत्त आदि में "रूपक" का जन्म हुआ तथा यूनान में डायोनिसस देवता की पूजा उपासना में अपनी इन्हीं आधारभूत विशिष्टताओं के आधार पर ही नाटक की संरचनात्मकता तथा शैल्पिक संघटना का

---

x Now as tragic imitation implies persons acting, it necessarily follows in the first place, that spectecular equipment will be a part of tragedy. "Aristotlis" Poetics P. 23 H. Butchers edition.

निरीक्षण-परीक्षण अपेक्षित है । इसी कारण यूरोपीय "ड्रामा" का प्राचीन नाम स्टेजप्ले अपनी विशिष्ट सार्थकता रखता है ।x

कोई भी नाटक, यदि वह जीवंत रंगमंच के लिए लिखा गया है तो तत्कालीन रंगमंच ने उसे अवश्य प्रभावित किया होगा । सफल नाट्यकृति हमें सम-सामयिक रंगमंच एवं रंगकला के अध्ययन में सहायता प्रदान कर सकती है । किसी भी देश के विभिन्न युगों का नाट्य साहित्य उस देश की रंगशालाओं के निर्माण एवं रंग व्यवस्था के बदलाव के साथ-साथ बदलता रहता है । उदाहरणार्थ- इंग्लैंड को ही लें- ऐलिजाबेथ के समय में रंगशाला मुक्त आकाश के नीचे खुली होती थी, दिन के प्रकाश में अभिनय होता था, रंगमंच एक नंगा चबूतरा §बेस प्लेटफार्म§ था, पर्दों की व्यवस्था न थी, प्रवेश प्रस्थान की मंच पर उचित व्यवस्था न थी, प्रेक्षक तथा अभिनेता समान प्रकाश में होते थे, दर्शक रंगमंच के काफी निकट बैठते थे । सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते रंगमंच पर पर्दों की व्यवस्था हुई तथा मेहराबदार रंगपीठ का निर्माण हुआ, परन्तु प्रकाश व्यवस्था सम्पूर्ण रंगशाला में समान ही थी तथा पहले की भांति दर्शक भी रंगमंच के काफी निकट ही बैठते थे । अठारहवीं शताब्दी के मध्य जब बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों का निर्माण हुआ तब दर्शकों एवं अभिनेताओं की दूरी भी बढ़ी । परन्तु पूरे रंग भवन में समान प्रकाश रहने के कारण दोनों एक प्रकाश की समता की स्थिति में ही रहे । आगे चलकर जब गैस तथा बिजली की व्यवस्था से प्रकाश के साधन बढ़े तब पूरे परम्परागत रंगमंचीय विधान में परिवर्तन आया । यहीं से नये ढंग के अभिनेता प्रेक्षक सम्बन्धों का आरम्भ हुआ । एक ओर तीव्र प्रकाशित मंच था, दूसरी ओर धुंधले प्रकाश में बैठे दर्शक । अतः एक प्रकार से मंच पर प्रभावात्मकता की वृद्धि हुई । परिणामतः प्रदर्शन विधियों, भाव भंगिमाओं, मंच सज्जा तथा पात्र-सज्जा में परिवर्तन आया । रंगमंच को यथार्थ जीवन के अधिक से अधिक निकट लाने का प्रयास चल उठा । यथार्थवादी नाटकों का युग आ गया तथा शेक्सपियर के नाटक आधुनिक रंगमंच पर असफल होने लगे । यहाँ तक स्थिति पहुँची कि मंच अधिक महत्वपूर्ण हो गया और नाट्यकृति कम ।

---

x The literacy out of dram is organically bound up with its Ristrionic conditions- there is much to be said in favour of the good old name for drama"stage play" -W.H. Hudson. An Introduction to the study of literature. P. 174

परन्तु एक बार पुन: यूरोप भर में प्रतीकात्मक रंगमंच का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । ब्रेख्ट के महानाट्य ने इस आन्दोलन को बढ़ावा दिया ।

संस्कृत रंग-परम्परा के समाप्त होने के पश्चात् शताब्दियों तक हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं रहा । भक्तियुगीन दृष्टि में जीवन के प्रति विराग था । दरबारी संस्कृति के सतयुग में कवि शिक्षा की दृष्टि से लिखे गये दोहों और कवित्त सवैयों का ही प्राधान्य रहा । आधुनिक काल में नवजागरण की स्थिति में भारतेन्दु का ध्यान अपनी प्राचीन नाट्य-परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ और उसे सजीव करने का उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया । एक बार पुन: हिन्दी में नाट्य लेखन तथा मंचन प्रारम्भ हुआ ।

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल की चेतना के उपरांत जब नया परिवेश निर्मित हुआ तभी हिन्दी नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध का भी नवीन एवं सार्थक आरम्भ हुआ । इसी समय नवीन रंगमंचीय चेतना का आरम्भ हुआ । पारसी रंगमंच भी सस्ती भावुकता के स्थान पर अब कलात्मक परिष्कृत रुचि दृष्टिगोचर हुई । व्यवसायी पृथ्वी थियेटर की स्थापना हुई और अव्यवसायी जन नाट्य संघ में नाटक को सामाजिक एवं कलात्मक सार्थकता प्राप्ति का मार्ग मिला ।

दृश्यात्मक परिकल्पना नाटक का अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है । यह मूलत: पात्रों की पृष्ठभूमि तथा कार्य व्यापार का ही दृश्य रूप है । इसी के द्वारा नाट्य कला का वैशिष्टम प्राप्त होता है । इसके दो पक्ष हैं- अभिनय प्रदर्शन§ Performance § और दृश्यबंध § Setting § आधुनिक युग में दूसरे पक्ष का महत्व पहले की अपेक्षा बढ़ता जा रहा है, क्योंकि आजकल इस कला के लिए अनिवार्य सामग्री की तो कोई सीमा ही नहीं ।x

---

x चेनी §शेल्डान§ रंगमंच अनु0 श्रीकृष्णदास, पृ0 579

यद्यपि नवीन बाह्य उपकरणों एवं चमत्कार पर इतना अधिक ध्यान देने की नहीं कि मूल नाट्य वस्तु तथा प्रदर्शन गौण हो जाएं, फिर भी नाटक के एक संतुलित और प्रभावोत्पादक आवश्यक परिवेश के रूप में दृश्य सज्जा आधुनिक नाटक का महत्वपूर्ण एवं अत्यंतिक अंग है ।x

पश्चिम में यद्यपि नाटक को A literacy work written in a form suitable for stage Presen-tation माना जाता रहा है, किन्तु क्रोचे स्पिनगार्न प्रभृति आधुनिक आलोचकों की धारणा इसके विरुद्ध है ।xx क्रोचे मानते हैं कि प्रत्येक कलाकृति में मानदण्ड कलाकृति में ही निहित होते हैं तथा विभिन्न रूप विधाओं में कलाओं का वर्गीकरण उचित नहीं । स्पिनगार्न कहते हैं कि नाटककार की कृति की समीक्षा भी अन्य कलाकारों की कृतियों के समान ही होनी चाहिए । मूल्यांकन इस दृष्टि से होना चाहिए कि उक्त कलाकृति क्या अभिव्यक्त करना चाहती है तथा उसे कैसे अभिव्यक्त किया गया है ।xxx

नाटक और रंगमंच एक दूसरे के अधीन होते हुए भी अपनी व्यापकता रखते हैं जो पर्याप्त रूप में महत्वपूर्ण होती है ।xxxx डा0 नगेन्द्र ने अपने वक्तव्य में यह घोषित किया है कि नाट्य §Performance प्रस्तुति§ एवं नाटक का सम्बन्ध अभिव्यक्ति एवं भावना का सम्बन्ध है ।xxxxx

---

x नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन, पृ0-24

xx A Nicoll The theatre and Dramatic Theory P. 37

xxx J.S. Spingarn. Creative Criticism. ED 1931 P. 29.31

xxxx .... Just as the theatre extends its scope in the breadth to embrace more than performance of plays, so the drama's scope is extended in the depth to more than the immediately theartical. A Nicoll. The theatre and Dramatic Theory P. 41.

xxxxx डा0 नगेन्द्र अनामिका द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य महोत्सव की दर्शक समीक्षक गोष्ठी के अध्यक्ष पद से वाचित । कलकत्ता दिसम्बर, 1964 संकलित आस्था के चरण पृ0 199

बंगला के प्रसिद्ध रंग निर्माता और अभिनेता शम्भु मित्र ने लिखा है- "पर नाटक के नाम से जो लिखा जाए वह होना नाटक ही चाहिए, अर्थात् उसमें रंगीय कार्य-व्यापार §थियेट्रिकल एक्शन§ होना जरूरी है । रंगीय रूप में ध्यान रखकर उसके अनुसार चलना जरूरी है ।×

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक और रंग मंच दोनों अन्योन्याश्रित हैं । आधुनिक नुक्कड़ नाटकों को यदि अपवाद स्वरूप मान लें- जिसमें कि रंगमंच की भूमिका न के बराबर है-तो हम कह सकते हैं कि सभी प्रकार के आधुनिक नाटकों में रंगमंच की भूमिका महत्वपूर्ण है । नाटक के विकसित रूप फिल्मों की बात लें तो वहां भी रंगमंच बदले हुए रूप में मौजूद है । फिल्मों में लाखों रुपये खर्च करके जो भव्य सेट लगाए जाते हैं वे रंगमंच के ही स्थानापन्न हैं । आधुनिक तकनीक व नये वैज्ञानिक आविष्कारों ने नाटक को और भी अधिक रंगमंचाश्रित कर दिया है । फोटो-ग्राफी व प्रकाश प्रक्षेपन में जो नई तकनीकें विकसित हुई हैं उन्होंने अभिनय के प्रभाव में कई गुना अभिवृद्धि कर दी है । जहां पहले के नाटकों में काफी कुछ अभिनय अभिनेता की अभिनय कला पर निर्भर करता था, वहीं आधुनिक नाटक पूर्णत: रंगमंच और निर्देशक की चीज बन गए हैं ।

आज के नाटकों में निर्देशक अभिनय कला का पारखी तो होता ही है, साथ ही वह नाट्य प्रस्तुतीकरण में रंगशिल्पी की भूमिका का भी निर्वाह करता है । दृश्य संरचना, वेशभूषा तथा रूपविन्यास, प्रकाश संयोजन, ध्वनि संयोजन एवं गीत-संगीत से लेकर नाटक की कथावस्तु अभिनेताओं का चयन एवं अभिनय की शैली सभी पर नाट्य निर्देशक का पूर्णत: नियंत्रण होता है । निर्देशक नाटक एवं रंगमंच के समायोजना द्वारा ही प्रस्तुतीकरण में प्रभाव उत्पन्न करता है । इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान में रंगमंच विहीन प्रभावशाली नाट्य प्रस्तुति की परिकल्पना सम्भव नहीं । यह सही भी है कि यदि नाटक को फिल्म की प्रतिस्पर्धा में बचाए रखना है तो उसके रंगमंचीय पक्ष को और भी अधिक सबल बनाना अपेक्षित है ।

× नटरंग, जनवरी जून, 1975 पृ0 41

द्वितीय अध्याय

रंगशिल्प का स्वरूप

- भारतीय रंगशिल्प (संस्कृत)
- पाश्चात्य रंगशिल्प
- पारसी रंगशिल्प
- लोक रंगशिल्प

अध्याय: दो:

रंगशिल्प का स्वरूप:-

आधुनिक रंगशिल्प के स्वरूप पर भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य शिल्प परम्पराओं का पर्याप्त प्रभाव है । आज भारत के विभिन्न भागों में नाट्य शिल्पों के जो रूप दिखते हैं, उनकी परम्परा के उत्स संस्कृत एवं बाद की लोकनाट्य परम्परा में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं । पाश्चात्य रंगशिल्प का प्रभाव स्पष्ट रूप में 19वीं व बीसवीं शताब्दी में ही दिखाई देता है । हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ भारतेंदु युग से माना जाता है । भारतेंदु ने नाटकों के लेखन के साथ ही साथ अपने निजी प्रयासों से साहित्यिक रंगमंच की शुरूआत की । साथ ही उन्होंने नाटकों में अभिनय भी किए । भारतेंदु के समय में पारसी हिन्दी रंगमंचों की धूम थी । राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद बेताव तथा आगा हश्र कश्मीरी उन दिनों पारसी हिन्दी नाटकों के प्रमुख नाटककार थे । चूंकि उन दिनों तक नये चलचित्र माध्यम का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए पारसी-हिन्दी रंगमंचीय मंडलियों ने रंगमंच को व्यावसायिक रूप देते हुए भारत के बड़े-बड़े व छोटे अधिकांश शहरों में नाटकों के प्रदर्शन का श्री गणेश किया । पारसी-हिन्दी रंगमंचीय नाटक यद्यपि आम जनता में पर्याप्त लोकप्रियता हासिल कर चुके थे, पर परिष्कृत रुचि के दर्शकों को इन नाटकों से परितृप्ति नहीं हो पाती थी । सम्भवत: इसी कमी को ध्यान में रखते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र नाट्य रचना की ओर उन्मुख हुए । इस समय तक अंग्रेजी थियेटरों के माध्यम से भी अंग्रेजी भाषा के नाटक प्रस्तुत किये जाने लगे थे, जिसके साहित्य में नाटकों की एक गौरवशाली परम्परा थी और विकसित रंगमंच भी था । भारतेंदु ने अपने नाटकों में संस्कृत नाटकों के कथानक लेते हुए भारतीय लोक नाट्य परम्परा का उनमें समाहार कर दिया । यद्यपि उनके नाटकों पर पारसी-हिन्दी नाटकों का भी पर्याप्त प्रभाव है । पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने हिन्दी नाटक को समसामयिक सन्दर्भों से जोड़ दिया । तत्कालीन शासन व्यवस्था के मंतव्यों के खुलासे के लिए नाटक से अच्छा माध्यम उन दिनों कोई हो भी नहीं सकता था । 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक इस बात के सशक्त उदाहरण हैं । राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में पारसी-हिन्दी नाटकों के

योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता, भले ही उनका दृष्टिकोण व्यावसायिक रहा हो । वह काल ही ऐसा था जिसमें राष्ट्रीयता की चेतना साहित्य की सभी विधाओं में प्रचुर रूप में व्याप्त थी । बाद में जयशंकर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से हिन्दी नाटक को जो उत्कृष्ट रूप प्रदान किया, उसकी परम्परा स्थापित करने का श्रेय भारतेंदु व उनके समकालीन नाटककारों को ही दिया जायेगा । "प्रसाद" ने भारतीय अतीत के उज्ज्वल पक्षों को हिन्दी पाठकों व दर्शकों के समक्ष रखते हुए राष्ट्रीयता की अवधारणा की स्पष्ट अभिव्यक्ति की ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में नाटकों के प्रचार व प्रसार के लिए सहकारी सहयोग से "राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय" की स्थापना की गयी । जिसके माध्यम से देशी तथा विदेशी दोनों ही भाषाओं के अच्छे नाटकों के प्रदर्शन किए जाने लगे । इस विद्यालय के माध्यम से भी हिन्दी रंगशिल्प को नये आयाम प्रदान किए गए । इस काल के हिन्दी नाटककारों ने मंच व अभिनय को दृष्टिपथ में रखते हुए नाटकों की रचना की । धर्मवीर भारती, जगदीशचन्द्र माथुर एवं मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को नयी ऊँचाईयाँ प्रदान की ।

समकालीन हिन्दी रंगमंच के रंगशिल्प के विवेचना के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य रंगमंच की रंगशिल्प परम्पराओं का विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय में किया गया है । साथ ही पारसी हिन्दी रंगमंच एवं लोक नाट्य शिल्प परम्परा का मूल्यांकन भी वर्तमान सन्दर्भों में किया गया है । भारतीय रंगशिल्प की सबसे प्राचीन परम्परा संस्कृत नाटकों व उसके रंगशिल्प में देखी जा सकती है । जहाँ की भारतीय नाटकों के श्रेष्ठ रूप के दर्शन होते हैं । पाश्चात्य रंगमंच के रंगशिल्प का इतिहास भी काफी प्राचीन है । प्रस्तुत अध्याय में दोनों ही परम्पराओं का सम्यक् विवेचन व विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

(क) प्राचीन भारतीय रंग-परम्परा: संस्कृत रंगमंच

भारतीय रंगमंच की परम्परा अति प्राचीन है । विश्व साहित्य में नाटक का अस्तित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है । रंगकला की सौन्दर्यात्मक, नैतिक तथा ऐतिहासिक महत्ता इसीलिए है कि जातीय चरित्र तथा सामाजिक चेतना का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व उसमें प्राप्त होता है । इसी कारण यूनानी आचार्य अरस्तू ने काव्य को इतिहास से श्रेष्ठ घोषित करते हुए त्रासदी को सभी काव्य विधाओं में उच्चतम स्थान दिया ।x भारतीय पुराकथा है कि स्वयम्भू मनु के साथ जब सतयुग समाप्त हो गया तथा वैवस्वत मनु के साथ त्रेतायुग आरम्भ हुआ तब लोग भोग-विलास में डूब गये, चारों ओर दुःख बढ़ गया तब इन्द्र को अपना नेता बनाकर देवता ब्रह्मा के पास प्रार्थना करने गये कि उन्हें मनोरंजन का ऐसा साधन-चाहिए जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो ।xx चारो वेद शूद्र जाति के लोग नहीं सुन सकते, ऐसे पांचवें वेद की रचना कीजिए जो सभी वर्गों के लिए हो । अतः उन्होंने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, अजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्वदेव से रस लेकर नाट्य वेद की रचना की है ।xxx

नाट्यशास्त्र में वर्णित अन्य पुराकथा के अनुसार सर्वप्रथम नाट्याभिनय इन्द्रलोक में देवासुर संग्राम में देवताओं के विजयोत्सव के समय हुआ । इसी अवसर पर ब्रह्मा की आज्ञा से भरत मुनि ने नाट्यवेद का प्रयोग किया । अतः रंग सृजन की दृष्टि से ध्वज महोत्सव भारतीय सांस्कृतिक जीवन की प्रथम घटना है । ब्रह्मादि देवता इस अभिनय से बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने अभिनेताओं तथा प्रयोगकर्ताओं को उपहार प्रदान किये । इन्द्र ने अपना शुभ ध्वज, ब्रह्मा के कुटिलक (अभिनवगुप्त के अनुसार एक बंकिम लकड़ी जिसका प्रयोग विदूषक करता है) वरुण ने स्वर्णधारी, सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने पंखा, विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा देवी सरस्वती ने दृश्य विधान एवं श्रवण बोध प्रदान किया ।xxxx

---

x Aristotles Poetics. S.H. Butcher P. 35

xx ना०शा० 1/11

xxx ना०शा० 1/17, 18, 19, 20

xxxx ना०शा० 1/59-61

दैत्य इस नाट्य प्रयोग को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विरूपाक्ष के नेतृत्व में विघ्नों को उकसाते हुए बोले । हम इस नाटक को इस रूप में नहीं सह सकते, सब लोग एकत्रित हो जाओ ।x तब विघ्नों ने असुरों के साथ माया का आश्रय ग्रहण कर अभिनेताओं की वाणी, चेष्टा तथा स्मृति को विजड़ित कर दिया ।xx इस दिव्यास्त्र से देवता प्रसन्न हुए और सम्पूर्ण विघ्न नाशक इस ध्वज को उन्होंने "जर्जर" नाम दिया तथा कहा कि यह जर्जर समस्त नाट्य प्रयोक्ताओं की रक्षा करने वाला हो ।xxx इस घटना के उपरान्त इन्द्र रंगमंच के रक्षक माने जाने लगे तथा नाट्यरम्य में रक्षा के प्रतीक जर्जर की पूजा आरम्भ की गयी जिससे कि रंगकर्मियों को शुभ फल की प्राप्ति हो सके । 108 अंगुल अर्थात् 81 इंच का बांस विभिन्न रंगीन वस्त्रों से सज्जित करके जर्जर बनाया जाता था ।xxxx बलवंत गार्गी के मत से जर्जर साढ़े चार हाथ लम्बा बांस का डण्डा होता था जिसे घी और शहद से रचा कर मढ़ दिया जाता था ।xxxxx जर्जर में बांस की लकड़ी का प्रयोग होने के कारण ही पं0 हर प्रसाद शास्त्री ने निष्कर्ष दिया कि भारतीय नाटक उस प्रदेश में उद्भूत हुआ जहां बांस अधिक पैदा होता था ।xxxxxx

देवराज इन्द्र को रंगमंच का रक्षक मानने की यह प्रथा आज भी भारतीय लोक नाटकों में प्रचलित है । बलवन्त गार्गी ने लिखा है- नौटंकिये तथा रासधारिये जब एक गांव से दूसरे गांव में जाते हैं तो उनकी गाड़ी के साथ आज भी ऊँचा झण्डा बंधा होता है ।xxxxxxx

---

x एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने ।
अभवन्क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र संगता
विरूपाक्षपुरोगांश्च विघ्नान्प्रोत्साह्य तेऽब्रुवन् ।
न क्षमिष्यामहे नाट्यमेत दागम्यतामिति नाoशाo 1/64-65

xx नाoशाo 1/72

xxx नाoशाo 1/74-75

xxxx Hamendra Nath Das Gupta. The Indian stage Vol. P. 8

xxxxx बलवंत गार्गी रंगमंच पृ0 21

xxxxxx Pt. Har Prasad Shastri's Article, The origin of Indian Drama Journal of Asiative Society Bengal, new services Vol. V 1909 P. 351

xxxxxxx बलवन्त गार्गी रंगमंच पृ0 30

नटरंग में प्रकाशित अपने निबन्ध में श्री मुद्राराक्षस ने इस पुराकथा को नवीन दृष्टि एवं सन्दर्भों में देखा। उनके मत से दैत्यों का देव विजय के अनुकरण रूप नाटक का विरोध प्रदर्शन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का प्रथम सामंतीय वर्ग के प्रति विरोध "प्रोटेस्ट" है तथा इन्द्र द्वारा असुर दमन इतिहास का पहला सत्ता द्वारा किया गया लाठी चार्ज है।x

ब्रह्मा ने विश्वकर्मा द्वारा रंगशाला का निर्माण कराया तथा विभिन्न देवों को विघ्नों से सुरक्षा का कार्य सौंपा। अब की बार असुरों को रंगशाला में देवताओं के साथ-साथ आमंत्रित किया गया तथा नाट्य कर्म का मूल उद्देश्य पितामह ब्रह्मा द्वारा समझाया गया कि नाट्य प्रस्तुति का उद्देश्य आनन्द एवं शिक्षा प्रदान करना है तथा असुर एवं देव दोनों को ही इससे समान रूप से पवित्रता, सद्बुद्धि एवं दु:ख शोक से मुक्ति की प्राप्ति होगी।xx प्राचीन रंग शब्द डा० रघुवंश के मत से आधुनिक "स्टेज" का पर्याय है जिसके अन्तर्गत रंगमंच सहित सम्पूर्ण रंगशाला आ जाती है।xxx ध्वजोत्सव के इस नाटक के उपरान्त ही नाट्य शास्त्र में भरत मुनि ने विधिवत् रंग योजना वर्णित की है, जिसके अन्तर्गत रंगशिल्प प्रेक्षागृह आदि का विधान है। विश्वकर्मा द्वारा निर्मित रंग भवन में सर्वप्रथम जो नाटक अभिनीत हुआ उसका नाम "अमृत मंथन" है। जिसके रचयिता स्वयं ब्रह्मा थे।xxxx

दूसरा अभिनय "त्रिपुरदाह" का हुआ। यह प्रदर्शन ब्रह्मा तथा भरत के सहयोग से त्रिनेत्र भगवान शंकर के सम्मुख किया गया। यह नाट्य प्रस्तुतिकरण अनेक

---

x श्री मुद्राराक्षस निबन्ध, भरत और आधुनिक मंचकर्मी, कुछ नोट्स नटरंग जनवरी जून 1975 पृ० 55

xx ना०शा० §1§ 107/108

xxx डा० रघुवंश भरत का नाट्यशास्त्र भाग 1 पृ० 23

xxxx ना०शा० 4/4

पर्वत शिखरों से आच्छादित, प्राणियों, भूतों, गणों से भरे हुए, कन्दराओं तथा झरनों से आकीर्ण हिमालय पर्वत के ऊपरी भाग की विराट प्राकृतिक रंगभूमि में सम्पन्न हुआ । पूर्वरंग की समस्त विधियों का विधान यहाँ किया गया ।x यहाँ एक बात यह प्रमाणित होती है कि प्राकृतिक पृष्ठभूमि में नाट्याभिनय करने की परम्परा भारतीय रंगकला के इतिहास में अति प्राचीन युग में भी विद्यमान थी । आधुनिक मुक्ताकाशी रंगमंच §ओपन एयर थियेटर§ ऐसी परम्पराओं का ही विकसित रूप है जिसमें प्राकृतिक पृष्ठभूमियों, प्राचीन खण्डहरों की पृष्ठभूमियों आदि का सोद्देश्य प्रयोग कर नाट्य प्रस्तुति को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है ।

नाट्य प्रेक्षण के उपरान्त भगवान शिव ने "त्रिपुरदाह" में "नृत्य" का अभाव पाया । उन्होंने अपने शिष्य तण्डु §नन्दिकेश्वर§ को बुलाकर नाटक में विभिन्न प्रकार के नृत्य तथा आंगिक मुद्राओं §पिण्डी बंध§ का समावेश कराया । इसी समय से नाट्य के अन्तर्गत नृत्य का समावेश हुआ जिसके अन्तर्गत "करण" "अंगहार" और "रेचक" आते हैं ।xx ताण्डव कठोर मुद्राओं का नृत्य था । बाद में देवी पार्वती की इच्छा से नाट्य के अन्तर्गत लास्य नृत्य §ललित अंगहारों से युक्त श्रृंगार भावों वाला स्त्री पुरुष का सम्मिलित नृत्य§ समाविष्ट किया गया ।xxx

जम्बू द्वीप §भारत भूमि§ पर नाट्य कला को सर्वप्रथम लुनार के राजा नहुष की आज्ञा से लाया गया । स्वर्ग तक साम्राज्य विस्तार के उपरान्त नहुष ने भरत को अपने शिष्यों कोहल, शांडिल्य, धुर्तिल, वत्स्य को अनेक स्त्री तथा पुरुष अभिनेताओं के

---

x नाoशाo 4/8-10

xx नाoशाo 4/266

xxx नाoशाo 4/318

साथ पृथ्वी पर भेजने का आदेश दिया । अनिच्छा होते हुए भी इन्हें पृत्वी पर नाट्य प्रस्तुति करनी पड़ी । इन्हीं अभिनेताओं की मृत्यों से उत्पन्न सन्तानें "नट" कहलाई जिनकी जाति विशेष कर व्यवसाय नृत्य एवं गायन है ।x श्री मुद्राराक्षस का मत है कि नट संज्ञा वैदिक युग की नहीं, अपितु बाद की है । "नाट्य-शास्त्र" में ही इसका उल्लेख मिलता है ।

बौद्ध काल में अभिनेताओं को "नट" नाटक को "समाज" तथा रंगशाला को "समज्ज" कहा जाता था । यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं के लिए अभिनय प्रेक्षण निषिद्ध था तथापि उस काल में अभिनय की समृद्ध परम्परा थी तथा नाट्याभिनय इतना जनप्रिय था कि बीतराग भिक्षु भी उसकी और आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते थे । इसी कारण उनको अभिनय प्रेक्षण की पाबन्दी थी । कालिदास से पूर्व अश्वघोष जैसे बौद्ध महाभिक्षु ने "सारिपुत्र" प्रकरण" नाटक की रचना की ।xx

जैन साहित्य में महापुरुषों के समक्ष अभिनय प्रस्तुत कर इन्हें सम्मानित करने की परम्परा प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ "शयपसेणीय सुत्र" नामक ग्रन्थ में एक कथा आती है जिसका सारांश भगवान महावीर के समक्ष सूर्योपदेव ने बत्तीस प्रकार के नाट्यात्मक अभिनय प्रस्तुत किये । इस काल में नट-नटियों तथा नाट्य मण्डलियों द्वारा स्थान-स्थान पर नाट्य प्रदर्शन के भी प्रमाण मिलते हैं ।xxx

उपनिषदों, ब्राहमण ग्रन्थों आदि में भी नृत्य तथा अभिनय के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, जैसे वृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी संवाद ।xxxx समस्त

---

x Ibid, P. 123

xx जातक भाग 6 102

xxx पं0 सीताराम चतुर्वेदी- भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच पृ0 9

xxxx वृहदारण्यक उपनिषद् 3/8

पश्चिमी विद्वानों ने इस तथ्य का अनुमोदन किया है कि नृत्य एवं गायन के साथ नाट्य का प्रचार था । इससे सिद्ध होता है कि लोक-नाट्य परम्परा इस युग में पर्याप्त मात्रा में पल्वित हो चुकी थी ।

पाणिनि के युग में सांस्कृतिक समारोहों का प्रचार होने के कारण संगीत और नृत्य का पूर्ण विकास हुआ । उनकी अष्टाध्यायी में परिवादक x नाट्य xx तथा "नटसूत्र" का उल्लेख मिलता है । पाणिनि के समय नाट्यकला के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष का विधिवत् अध्ययन कराया जाता था तथा सामाजिकों की स्थिति अत्यन्त दृढ़ थी ।xxx

पतंजलि के महाभाष्य में "कंसवध" तथा "बालिबध" नामक दो नाटकों के अभिनय का प्रमाण मिलता है । पतंजलि ने नट-नटियों के अनैतिक जीवन का भी संकेत स्थान-स्थान पर दिया है ।xxxx कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" में लिखा है कि नट लोग गुप्तचरों का भी कार्य करते थे तथा वाणिज्य का भी । इन्हें राजपुत्रों की जीवन रक्षा के लिए नर्तक तथा वादक बनाकर बाहर भेजा जाता था । नाट्य शालाओं का कड़ा नियंत्रण था । ऐसी नाट्यमण्डलियां थीं जो घूम-घूमकर प्रदर्शन करती थीं । दूर से आने वाली मण्डलियों के प्रदर्शन पर राजा को पांच पण देने पड़ते थे ।xxxxx

वाल्मीकी रामायण में नट, नाटक, नर्तक, संगीत आदि का उल्लेख है । डा0 कीथ के इस विचार से हमें सहमति नहीं है कि रामायण में नाटक का कोई अस्तित्व नहीं मिलता ।xxxxxx रामायण में नाट्य संघों तथा नाट्य समाजों के अस्तित्व का

---

x अष्टाध्यायी 3/2/146

xxx डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल
xxxx पं0 सीताराम चतुर्वेदी अभिनव नाट्यशास्त्र पृ0 20
xxxxx अर्थशास्त्र 1/39
xxxxxx Dr. Keith, Sanskrit Drama P. 29

विवरण है । वाल्मीकि रामायण में अयोध्या काण्ड में भरत द्वारा ननिहाल में देखे गये दु:स्वप्न से उत्पन्न मानसिक क्लान्ति को दूर करने के लिए उनके सहयात्रियों ने गीत, नृत्य तथा नाट्य का आयोजन किया ।×

महाभारत के हरिवंश पर्व, विराट पर्व, वन पर्व में नाट्य, नृत्य तथा संगीत का उल्लेख मिलता है ।

संस्कृत नाट्य एवं रंगमंच सम्बन्धी उपयुक्त सामग्री के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं:-

1- पंचमवेद से तात्पर्य था नाट्यशास्त्र अथवा नाट्यवेद । इसी के अन्तर्गत दो प्रकार की परम्पराएं विद्यमान थीं- नाट्यधर्मी और लोकधर्मी ।

2- नाटक, लोककर्म, लोकभूमि, लोक स्वभाव तथा लोक रंजन का महत्वपूर्ण अंग था ।

3- नाट्य प्रदर्शन में ललित कलाओं का प्राधान्य था । विशेष रूप से गीत वाद्य एवं नृत्य का ।

4- नटकर्म समाज में सामान्य न था, किन्तु रंगकर्मी रंग-योजना में कभी पीछे नहीं रहे ।

5- नाट्य संघ घूम-घूमकर नाट्य प्रदर्शन करते थे । अत: लोक जीवन से नाट्य का निकटता का सम्बन्ध रहता था ।

6- नाटक का मूल रूप दृश्य था पाठ्य नहीं ।

रस निष्पति तथा रंग सिद्धान्तों को परिचालित करने की दृष्टि से संस्कृत नाटक के व्यावहारिक रंगपीठ पर कुछ दृश्य वर्जित माने गये हैं- वध, युद्ध, देश विप्लव, घेरा डालना, दूर का मार्ग, भोजन, स्थान, वस्त्र ग्रहण आदि । इन दृश्य वर्जनाओं का प्रमुख कारण है कि क्रूर सत्यों से दर्शक के मनोभावों को ठेस न लगे । नायक का रंगमंच पर वध वर्जित कार्य है ।

वाल्मीकि रामायण सर्ग 2, 67/15

संस्कृत रंगमंच में दो प्रकार की नाट्य धार्मिताएं हैं:-

1- लोकधर्मी

2- नाट्यधर्मी

संस्कृत काव्य शास्त्र में इतिवृत्र, नायक तथा रस के स्तर पर जितनी चर्चा हुई है तथा जितने नियमों एवं सिद्धान्तों का घेरा डाला गया, वह सब नाट्यधर्मी है । भरत का "नाट्यशास्त्र" एक प्रकार से नाट्यधर्मी रूढ़ियों का भण्डार है । किन्तु भरत यह कभी नहीं भूलते कि नाट्य की वास्तविक भूमि लोक जीवन है तथा लोकचित्त ही उसकी कसौटी है । धार्मिताओं के विषय में उनका मत है:

लोकधर्मी भवेत्वन्या नाट्यधर्मी तथा परा
स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेवहि ।। x

जो मानव स्वभाव है वह स्वाभाविक लोकधर्म है, जो कृत्रिम है वह नाट्यधर्म है । नाट्यधर्मी को नृत्य नाटक भी कहा गया है । यही वह शैली है जिसे कालिदास तथा श्रीहर्ष ने उत्पन्न किया । अतिशय साज-सज्जा एवं रूप वैभव संस्कृत रंगमंच की विशेषता है ।

लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं की प्रेरणाभूमि लोकजीवन होता है । यहां जन आनन्दोल्लास सहज रूप में व्यक्त होता है ।

संस्कृत नाटकों में प्राकृतिक चित्रणों का बाहुल्य है । हरियाली, उद्यान, आकाश, नदी, पर्वत, वृक्ष, हिरन आदि प्राकृतिक सौन्दर्य एवं उल्लास को व्यक्त करते हैं तथा नैसर्गिक जीवन के स्वच्छन्द वातावरण में सहज मानव-जीवन के विकास का चित्रण करते हैं ।

मूर्छा के दृश्य संस्कृत नाटकों में बहुत हैं, विशेषकर भास, शूद्रक, भवभूति तथा कालिदास की रचनाओं में ।

संस्कृत रंगमंच जीवन का विराट तथा बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करता है ।

---

x नाO शाO 21/203

(ख) पाश्चात्य रंगमंच

नाटक एवं रंगमंच की पाश्चात्य परम्परा पर्याप्त समृद्ध एवं महत्वपूर्ण रही है। सम्पूर्ण विश्व समय-समय पर पाश्चात्य जगत की रंग चेतना के सृजनात्मक पक्ष से आन्दोलित एवं प्रभावित होता रहा है। आज जब पूर्व एवं पश्चिम की सीमाएं टूट चुकी हैं तथा विश्व मानव का निर्माण हो रहा है तो सम्पूर्ण विश्व बोध प्रबल हो गया है। पाश्चात्य रंगमंच ने लगभग सभी देशों के नाट्यकारों को दिशा दी है। भारतेन्दु युग से ही हिन्दी नाट्य-साहित्य में पश्चिम के प्रभाव के संकेत मिलते हैं। इसका स्पष्ट प्रभाव भारतेन्दु के "नाटक" नामक निबन्ध पर दिखाई देता है। प्रसादजी ने स्वयं लिखा है:- "प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिंतनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है, इसलिए हम बाध्य हो रहे हैं अपने ज्ञान सम्बन्धी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए।"x

आधुनिक काल में हिन्दी के अनेक रंगमंचीय आन्दोलन पाश्चात्य जगत की देन है, जिनकी चर्चा समय-समय पर विद्वत्-मण्डली में होती रही है। जिसके लिए पाश्चात्य रंग आवधारणा के अनेक चरणों का क्रमिक विकास देखना होगा।

(क) ग्रीक रंगमंच

यूनानी रंगमंच अनेक दृष्टियों से समस्त आधुनिक यूरोपीय रंगमंचों का जनक है। यूरोपीय देशों से सर्वप्रथम यूनान में ही नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण को कला के सौंदय परक धरातल पर आधृत किया गया। साथ ही यूनानी रंगमंच के रूप विधान तथा रूढ़ियों ने पुनर्जागरणकालीन इटली के रंगमंच पर भी अनेक अमिट चिन्ह अंकित किए। इस पुनर्जागरण युगीन रंगमंचीय दृष्टि के द्वारा यूनानी प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप में व्याप्त हुआ। यहीं से यूनानी प्रभाव इंग्लैण्ड में आया तथा ऐलिजाबेथन, रेस्टीरेशन तथा आधुनिक युगीन नाटक के स्वरूप-निर्माण को प्रभावित करता रहा।

---

x जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 3।

प्राचीन एथेन्स के थियेटर के अतिरिक्त यूनान में अन्य कई प्रकार के थियेटर रहे हैं जिनमें हेलेनिस्टिक रंगमंच § Hellenistic Theatre § तथा यूनानी-रोमन § Graceo-Roman Theatre § ऐतिहासिक कालक्रम से प्रमुख हैं ।x सर्वप्रथम थियेटर तो एथेनियन थियेटर ही था, क्योंकि महान ग्रीक त्रासदी एवं कामदी इसी पर अभिनीत हुई । यहीं एस्किलस, सोफोक्लीज तथा यूरिपिडीस ने पांचवी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य तक नाटक को चरमोन्नति पर पहुँचा दिया । यूनानी रंगमंच पर दृष्टि केन्द्रित करते समय यूनानी जीवन में व्याप्त धार्मिक तत्व पर भी ध्यान देना अनिवार्य है, क्योंकि यूनान में धर्म ही नाट्य शिशु का पालना रहा है । नाटक वहां मात्र दृश्यात्मक मनोरंजन का अंग न होकर एक राष्ट्रीय कार्य व्यापार था । वहां नाटक का उद्भव देशभक्ति तथा धार्मिक भावनाओं से हुआ था । नाटक की प्रेरणा देश के लिए मरने वाले शहीदों की यशस्मृति तथा नगर के रक्षक देवताओं की परम्परागत उपासना में निहित थी ।xx

यूनानी नाटक के उद्भव के विषय में विविध सिद्धान्तों के होते हुए भी सभी विद्वान इस प्रत्यय की प्रतिष्ठा करते हैं कि त्रासदी का आरम्भ डायोनिसस देवता के सम्मान में गाये गये आवेशपूर्ण समवेत गीतों §डिथीरेम्बस§ से हुआ । इन गीतों में आवेशपूर्ण स्वाभाविक अभिनय तथा एक प्रचलित टेक रहा करती थी । ये मदोन्मत्त गायक वन्य एवं अपरिष्कृत प्रस्तुतीकरण के कारण "ट्रेजेडियन" अथवा "बकरे के पैर वाले" §गोट फुटिड§ कहे जाते थे । इसी कारण ट्रेजेडी का मूल उत्स "अजागीतों" में छिपा माना गया है। समय के साथ-साथ ये गीत अधिकाधिक काव्यात्मक होते गये । एक व्यक्ति नृत्य एवं गीतों का नेतृत्व करने लगा । यह नेता ही प्रथम अभिनेता बना । 535 ई0पू0 में थेस्पिस के नाटक के अभिनीत होने का प्रथम प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध होता है जिसमें समूहगान के नेता को अभिनेता के रूप में रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया । इसके पश्चात्

---

x A Nicoll, The Development of the Theatre, P. 17

xx Charles Hastings. The Theatre. Translated by Francis A. Welby P.1

संवादकला विकसित हुई और दो और तीन व्यक्ति अभिनेता के रूप में भाग लेने लगे। मुखौटा तथा अनेक प्रकार की वेश-भूषा के प्रयोग से ये अनेक पात्रों का अभिनय करने लगे। अतः छठी शताब्दी ई0पू0 में थेस्पिस से ही नाटक का जन्म माना जाता है। थेस्पिस के नाटक आज उपलब्ध नहीं हैं तथापि यह कहा जा सकता है कि उनके द्वारा प्रथम बार नाटक को डायोनीशियन उत्सव से मूलतः अलग किया गया। फिर भी शताब्दियों तक नाटक यूनानी धार्मिक भावना का ही अंग रहा।

"लीनियो" तथा "डायोनिशस इल्यूथीरियस" नामक दो वार्षिक उत्सवों को धूमधाम से मनाने के समय नाट्याभिनय होता था। इस समय सुखान्त, दुःखान्त व्यंगात्मक तीनों प्रकार के नाटक खेले जाते थे। कुछ समय पश्चात् एस्किलस सोफोक्लीज तथा यूरिपेडीज ने त्रासदी के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति कर दी। सोफोक्लीज के नाटक "एडिपस द किंग","एडिपस एट कालोनस", "एण्टेगोनी", एस्किलस के "दि सप्लाएण्ट्स", "एगामेमनोन", यूरिपेडीज के "दि कंप्चर आव मिलिटस", "हिप्पोलीटस", "मीडिया" तथा "दि ट्रोजन विमन" उल्लेखनीय हैं। यूरिपिडीज को प्रथम आधुनिक नाटककार इसलिए कहा जाता है कि नाटकों में मानव-प्रतीकों के स्थान पर उन्होंने मानवों को चित्रित किया है।

कामदी का आरम्भ भी त्रासदी के समान ढंग पर हुआ। कामदी में हीन कोटि के पात्रों द्वारा जीवन की अनुकृति की जाती है। कामदी का उद्भव डायोनीशियन उपासना के "कामोस" नामक उत्सव से माना जाता है। कामोस का आरम्भ जुलूस से होकर अंत लिंगोपासना सम्बन्धी गीत {फैलिक सांग} के साथ होता था। अतः कामदी में दो कोरस होते थे। "कामोस" में भाग लेने वालों के वचन व्यंग्यपरक होते थे। कामदी के तीन प्रकार मिलते हैं:-

1- प्राचीन कामदी {ओल्ड कोमेडी} इसके प्रमुख नाटककार एरिस्टोफिनीज थे जिनकी "दि क्लाउड्स" "दि फ्राग्स" आदि कृतियां प्रसिद्ध हैं।

2- मध्य कामदी §मिडल कोमेडी§ की विशेषता है साहित्यिक आलोचना तथा विद्रूप §पैरोडी§

3- नई कामदी §न्यू कोमेडी§ के प्रतिनिधि नाटककार मेनेण्डर हैं जिनके व्यंग्य दैनिन्दिन जीवन पर लिखे गये हैं । प्लेटो ने नाटक की चर्चा करते हुए ट्रेडेजी तथा कोमेडी की दृष्टि को स्पष्ट किया । आदर्श त्रासदी में वह श्रेष्ठ तथा उदान्त जीवन को अनुकरणीय मानते हैं । इसी विचार से साहित्य मात्र को अनुकरण माना जाने लगा । त्रासदी द्वारा जागृत किये गये भय तथा करुणा के भावावेश को भी प्लेटो ने स्वीकृति दी है । उन्होंने होमर को त्रासदी की विशिष्टताओं का प्रथम सूत्रधार माना है । हास्यास्पद तथा बेढंगे कार्यों को वह कामदी का मूल आधार मानते हैं । सच्ची हंसी हम तभी हंसते हैं जब किसी का भण्डाफोड़ होता है । प्लेटो की भांति अरस्तू ने भी काव्यकला को अनुकरण ही माना है । प्लेटो अनुकरण का अर्थ हू-ब-हू नकल से लेते हैं । इसके ठीक विपरीत अरस्तू अनुकरण को पुनर्सृजन की एक प्रक्रिया मानते हैं । कला प्रकृति की अनुकृति है अर्थात् कला अनुभूति एवं कल्पना के द्वारा जीवन की पुनर्निर्मिति है । आधुनिक भारतीय विद्वान तो भरत मुनि तथा अरस्तू के अनुकरण सिद्वान्त में पर्याप्त साम्य मानते हैं ।

अरस्तू महाकाव्य की तुलना में त्रासदी को ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि जीवन के गम्भीर कार्य व्यापार की अनुकृति का नाम है त्रासदी × भय एवं करुणा का उद्रेक मूलत: कथावस्तु तथा अंशत: चरित्र-चित्रण से होना चाहिए।जो उद्रेक केवल दृश्य विधान तथा प्रेक्षागृह के उपकरणों से होता है, वह त्रासदी के लिए उपयुक्त नहीं है । त्रासदी के प्रेक्षण से मन के तीव्र उद्वेग, करुणा, भय आदि शमित हो जाते हैं ।

× Aristotle's Poetics, Edited by S.H. Butcher P. 23

काव्य अथवा त्रासदी के इस उद्देश्य वासनाओं को भड़काना अथवा पोषित करना नहीं, अपितु उनका भाव-परिष्कार एवं उदात्तीकरण करना है । कला का अनुभवात्मक संसाद अनुभव की दुनिया की अपेक्षा अधिक बोधगम्य है । x

त्रासदी के छ: तत्व हैं- कथानक, चरित्र चित्रण, पद विन्यास, विचार, दृश्य प्रदर्शन और संगीत । इनमें कथानक, चरित्र चित्रण तथा विचार का सम्बन्ध वस्तु से होने के कारण ये अनुकरण के विषय हैं । पद विन्यास तथा संगीत का सम्बन्ध अनुकरण के माध्यम से है और दृश्य प्रदर्शन का सम्बन्ध अनुकरण की रीति से है । अरस्तू पूर्व तथा समसामयिक लेखक इन तत्वों का निर्वाह करते रहे हैं । xx अरस्तू ने त्रासदी में कथानक को सर्वाधिक महत्व दिया है तथा इसे त्रासदी की आत्मा स्वीकारा है । नाट्य व्यापार का उद्देश्य चरित्र की अभिव्यक्ति न होकर जीवनगत कार्य-व्यापार है, जिसके अन्तर्गत चरित्र स्वत: समाविष्ट हो जाते हैं । माना गया है कि चरित्र के बिना त्रासदी हो सकती है, कार्य के व्यापार के बिना नहीं । xxx

अरस्तू चरित्र चित्रण विषयक चार बातों पर बल देते हैं- (1) भद्रता (2) औचित्य (3) जीवनगत विश्वसनीयता (4) संगति । पद विन्यास में भाषिक संरचना का विस्तृत विवेचन समाहित है तथा विचार तत्व में संवादों का उचित निर्वाह । दृश्य प्रदर्शन का आधार है रंगकला । अरस्तू रचना के रंगमंचीय आयामों की उतनी महत् प्रतिष्ठा नहीं करते, जबकि भरत की सम्पूर्ण शक्ति रंगकला विवेचना में निहित है ।

---

x William K. Wimsott, Literacy criticism. A short History P.26

xx Attbins. The Poetics P. 7

xxx S.H. Butcher, Aristotle's Poetics P. 27

अरस्तू ने कथानक के तीन आधार संकेतित किये हैं- §1§ दन्तकथा परक §2§ इतिहास परक §3§ कल्पना परक ।

कामदी के विषय में अरस्तू ने स्पष्ट कहा है- "त्रासदी तथा कामदी में यही भेद है- कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण । कामदी के अभिनेताओं का नामकरण "भेमेदजाइन" §राग रंग मचाना§" शब्द के आधार पर नहीं हुआ । वरन् इसलिए हुआ है कि अपमान पूर्वक नगर से बहिष्कृत होकर वे एक गांव से दूसरे गांव में भटकते फिरते थे । x कामदी का विषय व्यक्तिगत न होकर वर्गगत अथवा सार्वजनिक होता है । इसलिए कामदी की कथा प्राय: काल्पनिक होती है ।

§ख§ <u>रोमन रंगमंच</u>

रोमन रंगमंच के आरम्भ के समय में नाटक के साथ धर्म का वह अविभाज्य सम्बन्ध खण्डित हो गया जो कि यूनानी रंगमंच की जातीय विशेषता थी । नाटक अब धार्मिक के स्थान पर कलात्मक आवश्यकता की पूर्ति का साधन बना, यद्यपि पार्थिव रूप में नाट्याभिनय क्रोधित देवताओं को शान्त करने के लिए ही प्रस्तुत किया जाता था ।

अधिकांश रोमन नाटक तो यूनानी नाटकों की अनुकृति मात्र हैं । अत: नाट्य प्रस्तुति अनुवादों अथवा मूल यूनानी नाटकों की ही होती थी । यही वजह है कि रोम में त्रासदी का विशेष व्यक्तित्व ही नहीं बन सका । अकेले सेनेका ही ऐसे नाटककार हैं जिनके दु:खान्त नाटकों का महत्व आगे आने वाले युगों में रेखांकित किया गया । सेनेका के नाटकों में शिल्प § फॉर्म § तथा मनोवैज्ञानिक निरीक्षण को अधिक

---

x डा० नगेन्द्र अरस्तू का काव्यशास्त्र पृ० 17 अनुवाद भाग ।

महत्व दिया गया है । रंगकला की अपेक्षा रूप §फॉर्म§ पर अधिक महत्व दिया गया है । वस्तुत: ये नाटक अभिनयात्मक शक्ति से रहित हैं, यद्यपि इनका अभिनय बहुत समय तक हुआ है ।x

त्रासदी की तुलना में रोमन कामदी अधिक जीवन्त हैं, किन्तु इस क्षेत्र में भी रोमन नाटककार यूनानी प्रतिभा से ही अभिभूत रहे हैं । रंगशाला के धर्म से हटने का लाभ रोमन कामदीकारों ने उठाया । xx

प्लाट्स तथा टेरेन्स के समय तक रोम में स्थायी रंगशालाएं न थीं । लकड़ी के मंचों पर इनके नाटक अभिनीत होते थे । पाम्पेभी द्वारा निर्मित रंगशाला ही प्रथम प्रस्तर निर्मित रंगशाला थी । अपने पूरे स्वरूप में यह यूनानी रंगशाला से एकदम भिन्न थी । अधिकाधिक अलंकरण तथा प्रदर्शनात्मकता इसकी प्रमुख विशेषता थी । सामान्यत: इटली की रंगशाला में यूनानी सादगी परक सौन्दर्य के लिए स्थान न था । अत: वह अलंकरण की ओर उन्मुख होती गयी । यूनानी भव्यता का स्थान गौण उपकरणों ने ले लिया । रंगमंचीय प्रभावोत्पादन के अनेक साधन जुटाये गये । मशीनों के प्रयोग के अतिरिक्त एक परदे का प्रयोग हुआ । यह परदा आधुनिक परदे की भाँति न होकर मंच के सामने की ओर गड्ढे में नीचे की ओर टंगा होता था ।xxx

धीरे-धीरे नाट्य मण्डलियां भी बनीं तथा नाट्यकला का पर्याप्त प्रसार हुआ । रंगमंच पर पहली बार स्त्रियों का प्रवेश हुआ, किन्तु उनकी स्थिति बहुत सम्मानजनक नहीं थी । रोमन अभिनेताओं की वेश-भूषा यूनानी अभिनेताओं की भाँति थी । त्रासदी के अभिनेता लम्बे चोंगे §गाउन§ तथा कामदी के अभिनेता छोटे वस्त्र धारण करते थे । रोम में पहली बार नाट्य प्रदर्शन रात्रि में हुआ तथा मशालों का

---

x Charles Hastings, The Theatre P. 56-57

xx A Nicoll. The development of the Theatre P. 80

xxx A Nicoll. The Development of the Theatre P. 55

प्रयोग कलात्मक सृष्टि की दृष्टि से हुआ । x

मध्ययुगीन रंगमंच

मध्यकालीन भावना में धर्म जीवन का प्रधान अंग बन गया । अधिकतर इस काल में धार्मिक नाटक लिखे गये ।

मध्ययुगीन चर्च के पादरियों ने ईसा मसीह के जीवनपरक तथ्यों पर ही नाट्य कथावस्तु को केन्द्रित कर दिया गया । इन नाटकों को उपासना पद्धति विषयक नाटक §लिटर्जीकल ड्रामा§ कहा जाता था । धीरे-धीरे नाटक चर्च की उपासना पद्धति से दूर होकर चर्च के द्वार के बार आया । नाट्य प्रदर्शन गलियों, चौराहों तथा गाड़ियों पर होने लगा । पादरी लोग इस स्थिति को सहन नहीं कर सके और नाटक से दूर चले गये । यही समय था जब कि सच्चे रूप में नाटक का जन्म हुआ तथा वह जन चेतना का महत्वपूर्ण अंग बना । मध्ययुगीन रंगमच कुछ दिशाओं में आरम्भिक यूनानी रंगमंच की भाँति का था । डायोनिशियन प्रस्तुतिकरण की भाँति ही मध्ययुगीन धर्म से आरम्भ होने वाला यह नाटक सामूहिक भावना का प्रतिनिधि तथा धार्मिक उद्देश्य परक था, किन्तु मध्ययुगीन नाटक में यूनानी सादगी एवं प्रभाव एक्य न था । अत: मध्ययुगीन रंगमंच स्पष्ट रूप से गोथिक कल्पना की वस्तु था । xx गम्भीरता का यहाँ अभाव था, चमत्कारिता तथा करिश्में दिखाने की प्रवृति प्रमुख थी । यूनानी भावना के विरूद्ध रंगमंच पर हत्या, रक्तपात तथा प्रलाप देखने की मध्ययुगीन प्रेक्षक की विशेष मांग थी । ग्रीक थियेटर सुसंगत प्रभाव ऐक्य को लेकर चला था, किन्तु मध्ययुगीन नाट्य लेखक गम्भीर तथा हास्यास्पद को गड्डमड्ड कर देता था । थियेटर भी ऊँची खिड़कियों तथा प्रस्तर नक्काशी के पीछे परनाले झांकते दिखाई देते थे । xxx

---

x चैनी शेल्डन , रंगमंच पृ0 120

xx A Nicoll. The development of the Theatre P. 80

xxx Ibib P. 80

यह जुलूस अथवा शोभा यात्रा का समारोह परक रंगमंच §वेजेंट स्टेज§ रेनेसां काल तक बल्कि शेक्सपियर के नाट्य प्रदर्शनों तक चलता रहा ।

पुनर्जागरणकालीन रंगमंच

15वीं-16वीं शताब्दी में पुनर्जागरण युग में एक बार पुन: यूनानी तथा रोमी साहित्य के अध्ययन मनन की ज्ञान पिपासा जागृत हुई । क्लासिक कृतियों के अध्ययन तथा उनके आधार पर काव्य एवं नाट्य सृजन का नवीन कार्य आरम्भ हुआ । समस्त यूरोप में व्याप्त कलात्मक एवं वैदुष्यपरक उत्साह ने यूनानी एवं रोमन रंगमंच के विषय में नवीन ज्ञान को प्रकाशित किया । विट्रूविअस की प्राचीन कृतियों को नवीन शिल्पकारों ने उत्साहपूर्वक पढ़ा तथा रंगशाला एवं रंगशिल्प सम्बन्धी नवीन सिद्धान्त निर्मित किये गये । सरलिओ तथा सेवेटनी की कृतियों में यह सिद्धान्त विवेचित एवं व्याख्यायित किये गये । इन नवीन सिद्धान्तों के परिणाम स्वरूप इटली तथा फ्रान्स में ऐसा रंगमंच निर्मित हुआ जिसके बारे में मध्ययुग कभी सोच नहीं सकता था । इसी रंगमंच ने सम्पूर्ण यूरोप की रंगकला एवं नाट्य सृजन चेतना में क्रान्ति उत्पन्न कर दी ।

क्लासिक नाटककारों में से सेनेका टेरेन्स तथा प्लाट्स के नाटकों को पुन:जीवित किया गया । प्रयोग तथा वैभव नाट्य के क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ रहे थे, किन्तु इस युग का रंगमंच एक भी स्थायी एवं अखिल विश्व ख्याति का नाटक निर्मित करने में असफल रहा । ×

आधुनिक रंगमंच का जन्म इटली के पुनर्जागरण से ही माना जाता है । नाटक में जीवन्तता अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा कम ही उत्पन्न हुई, क्योंकि यह युग अपार वैदुष्य एवं अद्भुत विचार स्वातंत्र्य का था । मध्ययुगीन रंगमंच अपनी सम्पूर्णता

× A. Nicoll. The development of the Theatre P. 105

में ईसाई स्त्रोत से उत्पन्न हुआ था । इटली के नवजागिरण ने धार्मिक नाटक एवं उनकी अनुकृति पर निर्मित रंगमंच को नमस्कार कर दिया । अतः रंगमंच की मध्य-युगीनता से मुक्ति हुई अथवा उसका आधुनिकीकरण हुआ । नाट्य रूपों के जो प्रतिमान तैयार हुए उनसे यद्यपि इटली में तो कोई शेक्सपियर नहीं पैदा हुआ, परन्तु स्पेन, इंग्लैंड, फ्रान्स में उनके लिए मार्ग खुल गया और बाद में आने वाले आज के यथार्थवाद के लिए सम्भावनाएं पैदा हो गयीं । x

परिवर्तन के परिणाम स्वरूप इटली के रंगशिल्प में चित्रित सेटिंग्स प्रयुक्त होने लगीं । इस प्रकार रंग सज्जा की नवीन व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते हुए पुनर्जागिरण ने धार्मिक नियमों एवं नगर संघों से रंगमंच के अलग होने का कार्य सम्भव बनाया ।

धीरे-धीरे प्राचीनों के अनुकरण से हटकर कला मौलिकता एवं नवीनता की ओर धावित होती दृष्टिगत हुई । अन्वेषण एवं अनुसंधान के इस युग में स्वतंत्रता एवं मानवतात्मा की शक्ति को पुनः प्राप्त किया गया । आधुनिक बौद्धिक तथा कलात्मक सृजनशीलता के व्यापक आधार निर्मित हुए ।

लोरेंजो महान की रंगशाला कलात्मक स्वतंत्रता का साक्षात् रूप रही है । राजा एक रात को टेरेन्स तथा सेनेका के नाटक अभिनीत कराते तो दूसरी रात को नवीन दुःखान्त नाटक प्रस्तुतीकरण पाते । कभी-कभी सान्ध्य बेला में मुखौटे लगाकर पौराणिक नाटक प्रस्तुत किये जाते । इसमें वैविधापूर्ण सेटिंग्स का प्रयोग बड़ा ही कलात्मक था । रंगकला का वैचित्र्य, ब्राध्य अलंकरण, रंगशालाओं के रूप, सेटिंग तथा यंत्रों एवं दृश्य मूलक प्रदर्शनों की प्रधानता इस युग की प्रवृत्ति को पूरी तरह प्रतिबिम्बित

---

x चेनी शेल्डान, रंगमंच पृ0 218

करती है । शाही दरबारों में नृत्य तथा अभिनय के लिए प्रयुक्त चौकोर मंच यात्रा-नाटकों एवं साज सज्जा युक्त नृत्य नाट्य से प्रभावित था ।

नाट्य-प्रस्तुतीकरण में रंग, प्रकाश तथा दृश्यमूलक तत्व प्रचुर हो गये जिनका प्रभाव बीसवीं शताब्दी तक चला आया है । यूरोप के सभी रंगमंचों पर चित्रित दृश्यमूलक सेटिंग का महत्व रहा है । परमा में फार्नीज थियेटर का यवनिका सज्जित मंच प्रथम आधुनिक रंगशाला के नाम से विख्यात रहा है । इसमें नवीन रंगपीठ का गठन हुआ जो अभिनय के लिए सर्वथा उपयुक्त था ।

अत: पुनर्जागरणकालीन रंगमंच आलंकारिक अधिक है संरचनात्मक कम । धीरे-धीरे रंगमंच मठाधीशों के हाथ में चला गया । इससे नाट्य-कला के पतन के चिन्ह प्रकट हुए और उसे भारी संकटों का सामना करना पड़ा ।

इटली के कवियों ने एक नवीन नाट्य रूप ग्राम्य एवं संगीत नृत्यपरक नाटकों की उद्भावना की । प्रथम बार रंगमंच कुंजों, ग्राम वाटिकाओं में लता गुल्मो के बीच सज्जित हुआ । इन नाटकों में प्राकृतिक तत्वों की अनिवार्य स्थिति रहा करती थी । इस प्रकार इन ग्रामीण नाटकों ने नया रंगमंच ही प्रदान कर दिया । मंचीय नाट्य की संगीतात्मक विधा "आपेरा" भी शक्ति के साथ उचित हुई । प्रथम आपेरा पेरीकृत डाफ्ने प्लार्जी कोसी ने 1515 में अभिनीत हुआ । कालान्तर में यह बहुत ही जनप्रिय विधा हो गई । नाट्य प्रदर्शन अधिकाधिक प्रतीकात्मक हो गया । बादलों में उड़ने के दृश्य, चलायमान सूर्य चन्द्रमा आदि के दृश्य सरलता से प्रस्तुत किये जाने लगा ।

ऐलिजाबेथन नाटक

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महारानी ऐलिजाबेथ के सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व ही इंग्लैंड में पुनजार्गरण का प्रादुर्भाव हो चुका था । पुनर्जागरण कालीन

इंग्लैंड में नाटक मानव स्वभाव एवं व्यवहार की व्यापकता एवं गहराई को विस्तार से अभिव्यक्ति देने का माध्यम बना । यहां पर व्यक्ति को चरित्रगत विशिष्टताओं स्वाभाविक प्रवृतियों एवं मनोवेगों को महत्व मिला-चाहे वे पैशाचिक हो अथवा उदात्त । कट्टर धर्म से अभिभूत नैनिक परम्पराओं तथा व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्तियों के बीच के संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की गई । x मारलो ने त्रासदी को नवीन पात्र अवधारणा दी जिसमें उच्च स्तर प्राप्ति के कभी न चुकने वाले संकेत विद्यमान हैं । xx

इसी समय इंग्लैंड में एक स्वतंत्र नाट्य धारा उद्भूत हुई । इस स्वच्छंतावादी धारा के नाटककारों में सर्वप्रथम नाम मारलो का है । तत्पश्चात् शेक्सपियर तथा अन्य नाटकार आते हैं । मारलो ने अंग्रेजी त्रासदी को नवीन पात्र-विधान दिया, जिनमें चारित्रिक गरिमा एवं मानवीय व्यक्तित्व के धैर्य एवं साहस का परम्परागत अवस्थाओं एवं विश्वासों से संघर्ष प्रस्तुत किया गया । जान लिली शेक्सपियर पूर्व के प्रमुख प्रतिभाशाली कामदीकार हैं । इनकी मौलिकता एवं प्रयोग धर्मिता इष्ट्क है । उन्होंने यथार्थपरक प्रहसन को लैटिन कामदी की जटिलता तथा नैतिक नाटकों की रूपकात्मकता से मिलाकर एक नवीन नाट्य शिल्प § Dramatic Design § प्रस्तुत किया जो शालीन एवं स्वप्निल रोमाण्टिसिज्म से आप्लावित है ।

शेक्सपियर के नाटकों में नाट्य भाषा की सांकेतिकता व्यापकता एवं गहराई अपने आप में बेजोड़ है । रंगमंचीय कौशल के साथ ही उनके नाटकों में काव्यात्मक श्रेष्ठता का तत्व बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित है । xxx

एलिजाबेथयुगीन नाटक युग तथा प्रकृति का दर्पण था । xxx x वस्तुतः यह महान नाट्य परम्परा प्राचीन यूनानी नाट्य परम्परा की भाँति सामूहिक जीवन के

---

x Ronald Peacock. The Art of Drama. P 183-84

xx Sir Ifor Evans. A short History of English literature P.103

xxx E.K. Chambers, The Elizabethan Stage. Vol 1 P. 3

xxxx Francis Fergusson. The idea of Theatre P. 14

अंतर्मन में केन्द्रीभूत थी । युगीन संस्कृति, युगमन की आशाओं, इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति यहां हुई है । x कवि लेखक सांस्कृतिक परम्पराओं तथा समसामयिक जीवन से अंतर्दृष्टि प्राप्त कर युगीन चेतना को अभिव्यक्ति दे रहे थे । युग को उसका वास्तविक स्वरूप अपने भले बुरे रूप में दिखा रहे थे । xx

सोलहवीं शताब्दी की मुक्ताकाशी सराय के प्रांगण के ढंग पर बनी रंगशाला की प्रस्तुति विधि अपनी विशिष्ट थी । xxx रंगमंच प्रतीकात्मक था तथा सम्प्रेषण व्यापार प्रेक्षक की कल्पना शक्ति के विस्तार के साथ पूर्ण होता था । नाट्य बिम्बपरक यथार्थ को जीवनगत वास्तविकता की यथावत् अभिव्यक्ति के रूप में गृहीत नहीं किया जाता था । इनीगो जोन्स इस युग का प्रमुख रंगशिल्पी था । ऐलिजाबेथन रंगमंच के पांच प्रकार थे:-

1- इंटरल्यूड के प्रदर्शन के लिए बड़े कक्षों के मंच प्रयुक्त होते थे ।

2- राज दरबार में प्रदर्शन होते थे । लिली तथा साथियों ने किशोर अभिनेताओं द्वारा ऐसे प्रदर्शन कराये ।

3- सार्वजनिक रंगमंच यह मुक्ताकाशी रंगमंच थे जिनके प्रतिनिधि रूप में "ग्लोब थियेटर" का नाम लिया जाता है ।

4- सत्रहवीं शताब्दी की प्राइवेट थियेट्रिकल कम्पनियां ।

5- सम्राट जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम के राज दरबार में प्रस्तुत किये गये भव्य कलात्मक लीलारूपक § Masques § ।

इन पांचों प्रकारों के प्रदर्शन के ढंग तथा रंगशिल्प की अपनी विशिष्ट मौलिक विशेषताएं हैं, जिन्होंने एक दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु आपस में घुली मिली नहीं । शैक्सपियरेतर नाटककारों में बेन जानसन का नाम प्रमुख है । इनके पाण्डित्य तथा रीतिबद्धता ने इन्हें शास्त्रीय तो बनाया, किन्तु जनप्रिय न बना सकी ।

---

x Ibid, P. 15

xx Shakespeare Hamlet P. 117-18

xxx Henri Fluchere, Shakespeare P. 92

ऐलिजाबेथ काल की सबसे बड़ा योगदान यह है कि इस काल में रूढ़ जर्जरित परम्पराओं का विध्वंस कर प्रगतिशील परम्पराओं को गृहीत करते हुए श्रेष्ठ जीवन्त रंगमंच उपलब्ध किया गया । अंग्रेजी नाटक की परिष्कृति एवं समृद्धि के इस युग में ऐसा क्लासिकल पद्वतियां स्थापित हुईं, जो काल के अनेक झटकों को झेलती हुई किसी न किसी रूप में आज भी पाश्चात्य रंगमंच में विद्यमान हैं तथा विश्व भर के साहित्य को प्रभावित करती रही हैं ।

रेस्टोरेशन रंगमंच

शुद्धतावादियों § Puritans § के प्रभाव के आधिक्य के कारण 1642 ई0 में लन्दन की रंगशालाओं में तालाबन्दी हो गई । इस घटना के कुछ समय पूर्व ही जान फोर्ड तथा जेम्स शर्ली नाट्य को काव्य में अलंकृत कर रहे थे । किन्तु गृहयुद्ध के साथ ही एक लम्बे समय के लिए अंग्रेजी नाटक के क्षेत्र में ठहराव आया । 1660 ई0 में सम्राट चार्ल्स द्वितीय के सिंहासनारोहण के साथ ही रंगशालाएं फिर से खुलीं । रेस्टोरेशन काल में पिछले युग के नाटककारों का सम्मान था । बेन जान्सन के "एव्री मैन इन हिज ह्यूमर तथा एव्री मैन आउट आफ हिज ह्यूर का रेस्टोरेशन रंगमंच पर कई प्रकार प्रदर्शन हुआ । शेक्सपियर के नाटकों का सामयिक फैशन में ढाल कर प्रदर्शित किया गया । x

रेस्टोरेशन नाटक ऐलिजाबेथन नाटक की भांति युग-जीवन का दर्पण न था । यह तो केवल दरबारी मनोरंजन का साधन था । रेस्टोरेशन कामदी पर मौलियर का स्पष्ट प्रभाव है ।

रेस्टोरेशन युग का दूसरा नाट्य प्रकार"हीरोइक ड्रामा"है । इस श्रेणी की प्रमुख रचनाएं हैं- ड्राइडन की आल फार लव, औरंगजेब । इन नाटकों की प्रमुख विशेषता

---

x Sir Ifor Evans, A short History of English Literature P. 124

इनकी अति भावुकता है । इसी कारण इन्हें सेंटीमेंटल ट्रेजेडी भी कहा जाता है । इस विचित्र नाट्य रूप में प्रेम तथा सम्मान के प्रयोजनों को अविश्वास्य स्थितियों तक बढ़ाया जाता है तथा पात्र भव्य शब्दाडम्बरपूर्ण प्रलाप करते हैं । इनकी सम्मान परक धारणा भी बेढब {फैन्टास्टिक} होती है । रेस्टोरेशन त्रासदी पर इटली के ओपेरा तथा कार्नेल की फ्रांसीसी शैली का गहरा प्रभाव है ।

रेस्टोरेशन काल में नाटक का साहित्यिक मूल्य घट गया । चेनी शेल्डान ने इस रंगमंच को शुद्धतावादी और शैतान का उपासना गृह x उचित ही कहा है । धीरे-धीरे गम्भीर अश्लीलता कम होती गयी । अभिनय बहुत ही खर्चीले तथा अलंकरणयुक्त होते थे । इनीगो जोन्स ने मंच के ऊपर चौखटे {फ्रेम} के सामने का पर्दा लगाने की प्रथा चलाई । साथ ही उन्होंने चित्रित दृश्यावली तथा अलंकृत स वस्त्राभूषणों का प्रयोग भी आरम्भ किया । मान्टेग समर्स ने रेस्टोरेशन युग की रंग सज्जा का विस्तृत वर्णन किया है । xx

ऐलिजाबेथन रंगमंच सभी वर्गों का रंगमंच था, सामान्य नागरिक वर्ग तथा आभिजात्य वर्ग दोनों ही नाटक को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देते थे । साथ ही कई नाट्यशालाएं भी तब थीं, किन्तु अब तो केवल एक-दो रंगशालाएं थीं इनका रूपाकार अत्यधिक छोटा था । वस्तुत: रेस्टोरेशन रंगशाला पेरिस तथा फैरारा की असार्वजनिक रंगशालाओं की प्रवृति के अधिक निकट थी । अपनी पूर्ववर्ती इंग्लैंड की ऐलिजाबेथन रंगशाला के कम । परिणामत: रंगमंच के स्वरूप ने रेस्टोरेशन नाटक के स्वरूप को प्रभावित किया । xxx

---

x चेनी शेल्डान रंगमंच पृ0 350

xx Montague Summer, The Restoration Theatre P. 94

xxx A. Nicoll. The Development of the Drama P. 169

अठारहवीं शताब्दी का रंगमंच: मैथ्यू आर्नोल्ड ने अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड को गद्य एवं तर्क का युग कहा है। x इस युग की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा उपन्यास रही है। फिर भी नाटक के क्षेत्र में इस युग की उपलब्धियां नगण्य नहीं हैं।

इस काल में कामेदिया देल आर्ते की परम्परा इंग्लैंड में भली-भांति स्थापित हुई। इस काल की प्रमुख नाट्यशालाएं दो थीं। §1§ ड्रूरीलेन थियेटर §2§ कोवेण्ट गार्डन थियेटर। रंगमंच पर मेहराबदार दरवाजों तथा बा्क्स सेट आदि की प्रथा भी चली। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चित्रित फलकों के स्थान पर त्रिपरिमाणीय रंगमंच का आरम्भ हुआ। शताब्दी के अन्त में कोवेण्ट गार्ड तथा ड्रूरीलेन थियेटरों के आकार में वृद्धि की गयी।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का रंगमंच: इस शताब्दी के बारे में जब निकोल महोदय कहते हैं कि इस सदी ने रंगकला तथा दृश्यात्मक परिकल्पना को बहुत कम योगदान दिया है। xx उन्नीसवीं शताब्दी में पिछली चली आती हुई परम्पराओं को ही आगे बढ़ाया गया था, क्योंकि इनीगो जोन्स तथा लूथर वर्ग पहले ही रंगदीप्ति एवं रंगमिश्रण सम्बन्धी प्रयास कर चुके थे। इस काल में बढ़ावा इसलिए मिला कि वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप गैस तथा बिजली के प्रकाशों ने रंग प्रदीपन के नये ढंग उपलब्ध कराये। वस्तुत: उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध नाट्य के अपकर्ष का काल था। युग की रंगमंचीय रुचि उथली एवं गर्हित थी। समाज में सम्पन्न मध्यवर्ग का बोलबाला था। इस वर्ग के अपने कोई कलात्मक आदर्श एवं संस्कार न थे। प्रेक्षक में एलिजाबेथयुगीन बौद्धिक तीव्रता एवं सहृदय कल्पना का भी अभाव था। रंगशाला अब नगर के फैशन परस्त स्त्री पुरुषों, लम्पट व्यक्तियों तथा गणिकाओं के मिलने जुलने तथा मन बहलाव का स्थान मात्र बन गयी थी। xxx शासकीय मनोवृत्ति भी रंगमंच के प्रति ठण्डी एवं उदासीन

---

x Essay by Mathew Arnold. Study of Poetry, collected in the Great Critics, by Games Hanry Smith and Edd Winfield Parks P 502-503

xx A Nicoll, The Development of the Theatre P. 185

xxx Calillo Pellizzi, English Drama (The last Great Phase)trans. by Rowan Villians P. 27

थी । अत: व्यापारिक बुद्धि ही रंगकला का परिचालन एवं नियमन करती रही । घटिया रोमानी जनरुचि ने अंग्रेजी रंगमंच को प्रहसन §फार्स§, अतिनाटक §मेलोड्रामा§ तथा भोंडे विद्रूप प्रदर्शनों का माध्यम बना दिया । उसमें साहित्यिक अभिरुचि की कोई बात न थी । x

यथार्थवादी नाट्य

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक प्रगति एवं नवीन चिंतकों तथा दार्शनिकों के प्रभाव स्वरूप नाट्य चेतना में भारी परिवर्तन आया । नवीन चेतना ने परम्परागत धर्म एवं नैतिक विश्वासों के ऊपर कशाघात किया । प्रगतिशील चिंतकों के सिद्धान्त एवं दर्शन विज्ञान एवं इतिहास के सत्य और बौद्धिक तार्किकता तथा मानव । अत: शक्ति पर आधृत थे । डारविन, जान स्टुअर्ट मिल, हक्सले स्पेन्सर, पियरे जोसफ प्रौंधा, मार्क्स, फायरबाक कामू, फ्रायड आदि द्वारा प्रदत्त वैचारिक क्रान्ति ने नाटक को जीवनगत प्रश्नों से जोड़ दिया । दोस्तोवस्की, बाल्जाक, जोला, मोंपासा, फ्लाबर्ट, बोदेलेयर, गोनकोर्ट बन्धु, डाडेट, टाल्सटाय, तुर्गनेव तथा इब्सन की कृतियों में यह नयी साहित्यिक चेतना मुखरित हुई ।

नार्वे निवासी इब्सन ने सर्वप्रथम यथार्थपरक जीवन से उद्भूत ज्वलंत समस्याओं को अपना नाट्य विषय बनाते हुए नवीन नाट्य शिल्प की अवतारणा की । इसीलिए उन्हें आधुनिक नाट्य का पिता भी कहा जाता है । यूरोपीय नाट्य साहित्य पर इस शैली का व्यापक प्रभाव पड़ा । हेबेल, ड्यूमास, स्टिन्डबर्ग, हाफमैन, सुषरमैन टाम राबर्टसन, पिनेरो, जोन्स बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, ग्रेन वाइल, वार्कर के नाटकों के विषय तथा शिल्प में यथार्थवाद के दर्शन होते हैं । साहित्यिक रोमानीयत तथा स्वच्छन्दावादी प्रवृत्तियों का पूर्ण बहिष्कार करती हुई इस बुद्धिवाद तथा नवीन प्रगतिशील चिंतनधारा ने सम्पूर्ण यूरोपीय जीवन को आजीवित कर दिया । धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं

---

x David Daiches A critical History of English Literature Vol. ii, P. 1101

नैतिक सम्बन्धों के नवीन विश्लेषण विवेचन ने नाटक को गम्भीर समसामयिक वास्तविकताओं के उद्घाटन का माध्यम बनाया। नाटककार एक ओर तो विश्वास एवं आदर्श विहीन तथा पाखण्ड एवं जर्जर रूढ़ियों पर खड़े बुर्जुआ वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति एवं प्रभाव को दिखा रहा था, साथ ही दूसरी ओर मैले-कुचैले दलित सर्वहारा वर्ग को सवाक् युयुत्सु एवं क्रान्तिकारी बनते हुए प्रदर्शित कर रहा था। x

अत: सामाजिक समस्याओं में निहित अंतर्द्वंद्व, व्यंग्य, विडम्बना का यथार्थ चित्रण किया गया जिससे कि वर्तमान स्थिति के प्रति विरोध को दृढ़तापूर्वक उत्पन्न किया जा सके। समाज को सुधार के लिए प्रेरित होने को मजबूर किया जा सके। xx अपने स्वर में रूढ़ि विध्वंसक होने के कारण ही समस्या नाटक "मोहभग का नाटक" {ड्रामा आफ डिस इल्यूजन} कहलाता है।

इन वास्तविकताओं से जूझती हुई कथाओं के लिए नवीन यथार्थवादी नाट्य-शिल्प का विन्यास किया गया। वस्तु-चयन में सर्वसामान्य जीवन में लक्षित प्रश्नों का उद्घाटन बौद्धिक सन्चेतनता एवं ईमानदारी के साथ किया गया। व्यक्ति एवं समाज के द्वन्द्व, सामाजिक रूढ़ियों से अभिभूत जीवन की प्रवंचनाओं विभीषिकाओं तथा खोखलेपन को सीधे सच्चे रूप में सामने लाते हुए रोमानी भावुकता, विशिष्ट कल्पना की कोमलता एवं सौंदर्यवादिता से नाटक को बाहर लाया गया। घटनाक्रम, नाटकीय स्थितियां, पात्र, भाषा, रंगनिर्देश, रंगशिल्प आदि सभी में आदर्श कल्पना एवं भावोच्छवास का स्थान सरलता, तार्किकता एवं सादगी ने ले लिया।

इब्सन के सामाजिक मनोवैज्ञानिक विषयों पर रचित नाटकों- "दि डाल्स हाउस," घोट्स, दि वाइल्ड डक में वैचारिक गाम्भीर्य एवं रंगशिल्पीय सूक्ष्मता विधमान है

---

x Ronal Peacock. The Art of Drama, P. 210

xx Cleanth Brooks. Undustanding Drama P. 256

आधुनिक यूरोपीय नाट्य में उनका श्रेष्ठतम स्थान है । उनकी कला उनके नैतिक विचारपरक रोष एवं क्रान्तिकारिता के साथ एकरूप हो गयी है ।

अंग्रेजी रंगमंच पर बौद्धिकता का आरम्भ यद्यपि राबर्टसन के साथ ही हो चुका था, किन्तु उसके स्पष्ट दर्शन, गिल्बर्ट तथा सुलीवान के आगमन के साथ होते हैं । एक प्रकार से उन्हीं ने आस्कर वाइल्ड तथा बर्नार्ड शा की कामदियों के लिए दर्शक वर्ग तैयार किया था । काफी लम्बे समयान्तराल के पश्चात् हमें गिल्बर्ट तथा वाइल्ड में शाब्दिक चातुर्य के दर्शन होते हैं । इंग्लैंड में इस मध्यवर्गीय जागरण एवं क्रान्ति के प्रमुख वाहक जार्ज बर्नाड शा थे । उनका रचना-काल भी सबसे अधिक विस्तृत §लगभग अर्द्ध-शताब्दी§ है । अपने लम्बे नाट्य सृजन काल में उन्होंने अनेक नाट्यान्दोलनों को जन्मते मरते देखा था । रंगमंच से उनका प्रथम परिचय नाट्यालोचक के रूप में हुआ । "अवर थियेटर इन दि नाइन्टीज" में उन्होंने अपने सामयिक रंगमंच पर सचेत एंव प्रबुद्ध प्रहार किये हैं । इब्सन से प्रभावित होकर उन्होंने अपने नाटकों को वैचारिक संघर्ष का माध्यम बनाया । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके स्वभाव में इब्सन की कठोरता के स्थान पर आयरिश विनोद × तथा कान्ग्रीव एवं आस्कर वाइल्ड के समतुल्य वैदग्ध्य था ।

रंगशाला में यथार्थवाद के प्रवेश के साथ ही <u>एप्रन स्टेज</u> तथा <u>प्रोसीनियम</u> द्वारों को समाप्त कर दिया गया । परम्परा के प्रतीक के रूप में केवल मंच का अग्रभाग §प्रोसीनियम आर्च§ रह गया । प्रत्येक अंक की समाप्ति पर परदे का गिरना तथा अंकारम्भ में परदे का उठना 1850 ई0 के बाद के रंगमंच का अनिवार्य अंग बन गया । परदे के गिरने उठने के बीच के समयान्तराल में दृश्य सज्जा परिवर्तित की जाती थी ।

× Sir Ifor Evans A Short History of English Literature P. 138

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के रंगमंच पर दूसरी प्रमुख घटना यह घटी कि मुख्य अभिनेता अपने पूरे प्रभाव दबाव के साथ रंगमंच पर छा गया । इसी समय से ऐक्टर मैनेजर प्रथा आरम्भ हुई ।

यथार्थवादी रंगमंच की दृश्यावली साधारण जीवन को अधिकाधिक आभासित कराने वाली होती थी । इसमें भड़कीलापन, चमत्कारिता तथा पुरातनता की प्रवृत्ति थी । पारम्परिक दृश्य सज्जा का स्थान अब वास्तविकता की भ्रांति उत्पन्न करने वाली दृश्य सज्जा ने ले लिया । मंच बिल्कुल फोटोग्राफ के समान हो जाता है जिसमें चित्रकार की झूठी कल्पना को अब कोई स्थान नहीं है । पार्श्व-विंग्स के स्थान पर प्लैट्स का प्रयोग आरम्भ हो गया । बॉक्स-सेट में कक्ष के तीन ओर की दीवारें तथा छत प्रदर्शित की गयी । चौथी दीवार के प्रति सजग इस समय के रंगचिंतक निर्माता के परदा उठाने को चौथी दीवार का उठाया जाना मानते हैं । स्टेज प्रापर्टी के रूप में वस्तुओं के प्रतीकों के स्थान पर वास्तविक वस्तुओं को प्रयोग में लाया जाने लगा ।

यथार्थवादी रंगमंच को सबसे अधिक सुविधा रंगदीप्ति के वैज्ञानिक प्रसाधनों से मिली । दिन का प्रकाश, चांदनी अंधेरी रात, घिरे हुए बादल आदि का यथार्थाभास बिजली की सहायता से सम्भव हो सका । विविध भावावस्थाओं तथा संवेगों की प्रभाव वृद्धि में प्रकाश में अनेक रंगों के मिश्रण से अद्भुत सफलता मिली ।

व्यावसायिक रंगशालाओं की प्रतिक्रिया में खड़ी होने वाली अव्यावसायिक रंगशालाओं में पेरिस में आंद्रे एन्तोनी की रंगशाला, बर्लिन में आटो ब्राम की तथा लन्दन में जे0 टी ग्रीन की रंगशाला प्रमुख थी । तत्पश्चात् लन्दन में स्टेज सोसाइटी" डब्लिन में आयरिश लिटररी थियेटर" तथा "एबी थियेटर" स्थापित हुए । अमेरिका में थियेटर गिल्ड स्थापित हुआ । "एबी थियेटर" के आन्दोलन ने अंग्रेजी के आधुनिक नाट्य विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

बीसवीं शताब्दी के नाटक को पिछली शताब्दी से यथार्थवाद की परम्परा उत्तराधिकार में मिली । किन्तु वास्तविकता तो यह है कि समसामयिक शताब्दी में आकर रंगमंच की सारी पुरानी परिभाषाएं विभ्रांत हो गईं । जीवन मूल्यों तथा युग संदर्भों के बदलाव ने सम्पूर्ण पाश्चात्य सभ्यता में ऐसा आलोड़न उत्पन्न कर दिया कि रंगमंच का किसी निश्चित परिदृश्य में सिंहावलोकन कर उसकी रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती । पिछले युगों का रंगमंचीय खाका सीधा एवं स्पष्ट था, किन्तु आधुनिक युग में वह अनेक दायरों के बीच घिरा हुआ है । दो महायुद्धों ने जीवन के भौतिक वातावरण को विकीर्ण कर दिया । परमाणु शक्ति के परिचालन के फलस्वरूप विध्वंस एवं धारणाओं, आशाओं एवं भ्रांतियों को पुन: परीक्षित एवं पुन: संशोधित करने के लिए विवश कर दिया । नवीन सामाजिक विचारधाराओं के उदय के साथ-साथ रंगमंच को सामाजिक संस्था माना जाने लगा । रंगमंच ने युद्ध पूर्व तक की चली आती हुई अपरिवर्तनशील रूढ़ियों एवं बन्धनों को तोड़ दिया । नाट्यशिल्प एवं कथ्य दोनों ही अधिकाधिक स्वतंत्र प्रयोगों के मैदान में उतर आये । आर्थर मिलर ने दावा किया कि "डैथ आथ ए सेल्समेन" में यथार्थवाद की रूढ़ियों एवं नियंत्रणों को तोड़ दिया गया है । x

रंगमंच की सीमा अब असीम हो गयी । आस्टिन स्टांग के नाटक "प्ले विदाउट नेम" में रंगमंडप मनुष्य के कपाल के अन्तर्गत का प्रतिनिधित्व करता है । अभिव्यंजनावादियों ने मानव हृदय की तार्किक प्रवृति को प्रस्तुत करने के लिए विलक्षण साधन अपनाये, प्रकृतिवादी यथातथ्य प्रस्तुतीकरण की झोंक में "चौथी" दीवार"के अभाव से इतने अधिक हुए कि एक निर्देशक ने इसकी पूर्ति के लिए प्रद प्रकाश के समक्ष एक जंगला तथा अग्निसंदशिका रखी । xx

---

x Arther Miller Preface to collected plays

xx Bamber Gascoigne. Twentieth century Drama P. 11

सम्पूर्ण रंग व्यापार वादों के घेरे में घूमने लगा । अभिव्यंजनावाद §एक्प्रेशनिज्म§, प्रभावाद §इम्प्रेशनिज्म§, प्रतीकवाद §सिम्बालिज्म§, रंगमंचीयतावाद §थियेट्रिकनिज्म§, प्रकृतिवाद §नेचुरलिज्म§, यांत्रिकतावाद §मैकेनिज्म§ आदि ने रंगमंच पर हर सम्भव प्रयोग कर डाला ।

बीसवीं सदी के चौथे पांचवें दशकों को महान नाटककारों की अपेक्षा महान अभिनेताओं का काल कहा जाता है । इनमें शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय अत्यधिक लोकप्रिय हुए ।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने रंगकार्य-विकास को धक्का दिया । युद्ध के बाद "रायल कोर्ट थियेटर" लन्दन थियेटर ग्रुप" जान लिलिवुड के लिटिल वर्कशाप" आदि ने रंगमंचीय सक्रियता दिखायी । 1956 में रायल कोर्ट थियेटर में अभिनीत जान ओस्बोर्न ने रंगमंच पर युद्धोत्तर समाज का वास्तविक चित्र उपस्थित कर दिया ।

पिरान्डेलों का पाश्चात्य नाट्य साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने आधुनिक नाटक को बौद्धिकता के स्थान पर भावावेश प्रदान किया । यूजीन ओ नील के नाटक प्रकृतिवाद की श्रेणी में आते हैं । उनके अधिकांश नाटक भारी प्रयोगों के रूप में हैं, जिनमें नीत्शे, फ्रायड, युंग एडलर आदि के सिद्धान्तों को नाटकीयता प्रदान करने का प्रयास किया गया है । बटौल्ट ब्रेख्ट के रंगमंच का आधार ही नैतिक विरोधाभास है । x वे रंगमंच पर वास्तविकता का आभास कराने की प्रक्रिया का अधिकाधिक निराकरण करते हैं । रंगोपकरणों तथा यंत्रों को छिपाने के स्थान पर अधिकाधिक स्पष्ट दिखाते हैं । प्रत्येक दृश्य के सारांश को भितिपत्रक §प्लेकार्ड§ पर प्रस्तुत कर देते हैं ।

---

x Bamber Gascoigne- Twentieth century Drama P. 211

सारांश ये कि रंगमंच की प्रवृति मुख्यत: काव्यात्मक एवं कलात्मक रही है । यथार्थवाद का रंगमंच पर आगमन एक समय विशेष के लिए ही हुआ था, अत: उसे रंगमंचीय प्रकृति का अंग नहीं माना जा सकता । रंगमंच पश्चिमी जीवन का अनिवार्य अंग रहा है । चाहे कभी धार्मिक कृत्य के रूप में जुड़ा रहा अथवा युग दर्पण के रूप में, जीवन के रागात्मक सम्बन्धों से जुड़ा रहा और हमेशा युगमन की अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहा ।

xxxxx

§ग§ पारसी हिन्दी रंगमंच

पारसी नाटक का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें आठवें दशक से होता है । अठारहवीं शताब्दी में प्लासी के युद्ध के समय में अंग्रेजों ने थियेटर का आरम्भ सैनिकों के मनोरंजन के लिए किया था । यह पर्यटक कम्पनी स्थान-स्थान पर अंग्रेजी नाटक खेलती थी । कम्पनी के संस्थापक विशेष रूप से पारसी थे और जब उन्होंने भारतीय भाषाओं में नाटक प्रदर्शन करना आरम्भ किया तब उनके नाटक "पारसी नाटक" कहलाए । अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में सर्वाधिक नाट्य लेखन तथा प्रस्तुतिकरण इन्होंने हिन्दी में ही किया, इसी कारण इस रंगमंच को पारसी हिन्दी रंगमंच की संज्ञा भी दी गयी । पारसी-हिन्दी रंगमंच तथा कलकत्ता में स्थापित व्यावसायिक बंगला रंगमंच समसामयिक थे ।

सर्वप्रथम पेस्टन्जी और फरामजी ने "ओरिजनल थियेटर" की स्थापना की । कम्पनी ने मुंशी मदारीलाल से "इन्दर सभा" नामक एक नाटक लिखवाया और प्रस्तुत किया । अन्य लेखकों में मोहम्मद मियां रौनक तथा हुसैन मियां जरीफ का स्थान प्रमुख है ।

1877 में खुर्शीद जी बालीवाला ने "विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" तथा कावसजी खटाऊ ने "एल्फ्रेड कम्पनी" की स्थापना की । 1890 में मुहम्मद अली जगबुढा तथा सोहराबजी ने "न्यू एल्फ्रेड कम्पनी" खोली ।

वस्तुत: क्रमबद्ध रूप से पारसी-हिन्दी रंगमंच काल सन् 1874 से सन् 1940 तक है । मुंशी विनायक प्रसाद तालिब के "गोपीचंद" से ही डा० लक्ष्मी नारायण लाल ऐतिहासिक दृष्टि से पारसी हिन्दी रंगमंच का आरम्भ मानते हैं । x उनके मत से इस रंगमंच का जीवनकाल 1969 तक चला क्योंकि तभी तक कलकत्ता में "मून-लाइट थियेटर" चला है । xx आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के मत से सन् 1860 से लेकर 1930 तक पारसी रंगमंच ही हिन्दी का एम मात्र रंगमंच बना रहा । xxx

---

x डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी हिन्दी रंगमंच पृ० 18
xx डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी हिन्दी रंगमंच पृ० 18
xxx आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आलोचना, नाटकांक, सम्पादकीय

पारसी थियेटर के नाटक लेखकों में मुंशी विनायक प्रसाद "तालिब", मेंहदी हसन अहसन, नारायण प्रसाद बेताब, पं० राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र कश्मीरी, कृष्णचन्द्र जेबा, ज्वालाप्रसाद वर्क, आदि का नाम प्रतिनिधि नाटककारों के रूप में लिया जाता है ।

इन नाटकों के कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रसिद्ध चरित्रों दंत कथाओं, आख्यान कथाओं आदि पर आधारित होते थे । इनकी प्रवृति रोमानी, शौर्य पटक, त्याग-बलिदान परक, उपदेश, शिक्षा आदि से पूर्ण तथा पुनरूत्थानवादी होती थी । "लैला मजनू", "शीरी परहाद" "रूस्तम ओ सोहराब", "यहूदी की लड़की", "आंख का नशा" आदि जैसी प्रेम कथाओं पर लिखे गये नाटक काफी प्रसिद्ध हुए । आगा हश्र ने "रूस्तम ओ सोहराब" सशक्त शैली चुस्त संवादों, तीव्र कार्य व्यापार तथा सूक्ष्म दृश्य रचना के साथ-साथ मानवीय आवेगों का सुन्दर समन्वय किया है । इस काल में पौराणिक नाटकों का विशेष महत्व है । श्री देवर्षि सनाढ्य ने हिन्दी के रंगमंचीय पौराणिक नाटकों में "बेताब" का बहुत ही श्रेष्ठ स्थान माना है । x वस्तुत पं० राधेश्याम कथावाचक तथा "बेताब" पौराणिक नाटकों के प्रमुख लेखक थे । राधेश्याम का "उषा अनिरूद्ध" "वीर अभिमन्यु", "बेताब" का"महाभारत" विश्वम्भरनाथ व्याकुल का "बुद्धदेव" आगा हश्र का "बिल्वमंगल" मुंशी विनायक प्रसाद "तालिब" का "विक्रम विलास" आदि इस प्रवृति के प्रमुख नाटक हैं । इन नाटकों की प्रवृति मनोरंजन प्रधान होने के साथ-साथ ही हिन्दू धर्म विषयक एवं उपदेश प्रधान अवश्य होती थी । इसी कारण पारसी नाटकों में एक साथ ही कई संवेदनाओं एवं उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की जाती थी । प्रत्येक नाटक में इतिहास, पुराण, देश भक्ति, त्याग, बलिदान, शौर्य तथा रोमांस मिले-जुले रहते थे । इन सभी नाटकों में अति नाटकीय प्रसंगों की भरमार होती थी । देवयोग संयोग आदि के द्वारा कथानक में आकस्मिकता उत्पन्न की जाती थी । डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने इस प्रवृति का विवरण देते हुए लिखा है- "हर दृश्य के अंत में "वन्समोर" की पुकार जब तक दर्शक समाज में न हो जाए, तब तक न नाटक श्रेष्ठ माना जाता है, न अभिनेता, न रंग शिल्पी, न गायक, न नर्त्तक ।" xx

---

x डा० देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटक पृ० 22।

xx डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी हिन्दी रंगमंच पृ० 78-80

रंगमंच पर शौर्य, साहसिकता §एडवेंचर§, आश्चर्यमूलक चमत्कार आदि की स्थितियां पैदा करना ही पारसी रंगमंच की व्यावसायिक सफलता की कुंजी थी। भावुकतापूर्ण सपाटकथानक को सजाने के लिए ही तरह-तरह के मनोहारी दृश्यों की योजना होती थी। नाटक के बीच-बीच में कई स्थलों पर नृत्य तथा चित्रवत् झांकी प्रस्तुत करना लेखक के कमाल की कसौटी थी। कथा में चटपते गीत, फड़कते हुए संवाद तथा स्थान-स्थान पर शेर फिट करके उसे मनोरंजन बनाया जाता था।

नाटक प्रस्तुति के आरम्भ में संस्कृत नाटकों की भांति मंगला चरण होता था। नाट्यारम्भ सूत्रधार तथा नटी के वार्तालाप द्वारा करने की पुरानी परम्परा भी प्रयुक्त होती थी, किन्तु अपने पूरे रंगमंच विधान तथा प्रस्तुतीकरण पद्धतियों में पारसी हिन्दी रंगमंच भारतीय तथा पाश्चात्य रंग पद्धतियों का मिला जुला रूप है। सर्वप्रथम इसी काल में हिन्दी नाटक पश्चिम से प्रभावित हुआ। डा० लक्ष्मी नारायण लाल का विचार है -"रूपक" और "ड्रामा" इन दो विरोधी नाट्य परम्पराओं के गड्डमड्ड से इन नाटकों के शिल्प और रंग पर कुछ अजब तरह का बहुद्देशीय प्रभाव पड़ा है। एक ओर इनसे हाई मेलोड्रामा, भयावत दृश्यों और कार्यों की रचना होती है, दूसरी ओर इनसे उपदेश, समाज सुधार और धर्म की झांकी, रामलीला, कृष्णलीला की चौकी का आभास मिलता है। × बलवन्त गार्गी के मत से "पारसी नाटक यूरोप की नाटकीय तकनीकों और भारतीय लोकनाटकों, स्वांगों, जुलूस झांकियों की खिचड़ी था। रंगसज्जा और पोशाकें इस प्रकार की थीं जो उस समय पश्चिम में बैठे लोक भारत के रहन-सहन के बारे में कल्पित कर लेते थे। ×× डा० श्रीमती विधावती लक्ष्मणराव नम्र ने पारसी नाटककार "बेताब" पर शोध कार्य करते हुए पारसी रंगमंच में भारतीय तथा पश्चिमी पद्धतियों के मिले जुले रूप के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं-"पारसियों ने अपना रंगमंच शेक्सपियरियन रंगमंच के आधार पर भारतीय रंगमंच के उपयुक्त निर्मित किया था। नाटकों में रस के स्थान पर कथा वैचित्र्य ही मनोरंजन का माध्यम था। ×××

× डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी हिन्दी रंगमंच पृ० 10।

×× श्री बलवंत गार्गी रंगमंच 17।

××× डा० श्रीमती विधावती लक्ष्मणराव नम्र, हिन्दी रंगमंच और पंडित नारायण प्रसाद "बेताब" पृ० 43

पारसी नाटकों की अभिनय शैली पर शेक्सपियर व विक्टोरिया युगीन नाटककारों का प्रभाव था । संगीत प्रयोग का रूप भी मिला जुला था । शास्त्रीय संगीत, लोकधुनों तथा पश्चिमी संगीत सभी का प्रयोग होता था । अति अभिनय §ओवर एक्टिंग§ पारसी अभिनय पद्धति की प्रमुख विशेषता है । चमत्कारिक, अति भावुक स्थिति प्रधान नाटकों के अभिनेता को गायन, नृत्य तथा तलवार चलाने की कला में निपुण होना आवश्यक था । प्रमुख बल बाचिक अभिनय पर दिया जाता था । अभिनेता संवादों तथा गानों की पूरी की पूरी रिहर्सल करते थे । x स्वर का विशेष ध्यान रखा जाता था । अभिनेताओं का स्वर तीव्र तथा करारा होता था, जिससे कि पंडाल में बैठे हजारों दर्शकों तक पहुँच सके । अभिनय में गति का प्रयोग केवल आने जाने अथवा घूम-घूम कर बोलने में होता था । भावाभिनय की आवश्यकता नहीं थी । हाथ, पैर, सिर आदि को संवाद और कार्यों के अनुकूल परिचालित करके आंगिक अभिनय विधि पूर्ण हो जाती थी । एक एक पार्ट के लिए दो दो अभिनेता तैयार कराये जाते थे ताकि कभी एक अभिनेता के अस्वस्थ अथवा रूष्ट होने पर दूसरे से काम चलाया जा सके ।

पारसी नाटकों में कुछ वर्ग चरित्रों की सृष्टि की जाती थी जैसे- धूर्त, शत्रु, मित्र, मसखरा आदि । अति दुखान्त नाटक के बीच में भी कोई न कोई प्रहसन चिपका दिया जाता था । इन प्रहसनों में अश्लील दृश्य प्रदर्शन को अनुचित नहीं माना जाता था ।

पारसी नाटक का पूरा विधान फार्मूलाबद्ध होता था । नाट्य रचना अभिनेता को ध्यान में रखते हुए की जाती थी । कम्पनियों में प्राय: वैतनिक नाटककार होते थे जो लेखन के लिए स्वतंत्र न थे । xx इन नाटकों की भाषा उर्दू से प्रभावित बोलचाल की भाषा होती थी । गद्य भी अनुप्रास युक्त होता था । सहगान §कोरस§ का प्रचलन था ।

---

x Shyamala Shiveshwarkar, Article The Rise and Decline of Parri Theatre. The Hindustan Times. Sunday Magzine 21 March, 1975

xx Ibid.

डा0 श्रीकृष्णलाल के मत से प्रथम वैज्ञानिक रंगमंच हमें पारसियों ने दिया है । x किन्तु वास्तविकता यह है कि पारसी रंगमंच का महत्व ऐतिहासिक महत्व अधिक है, रंग अवधारणा सम्बन्धी कम, क्योंकि जहां तक भारतीय रंगबोध के अन्तर्गत वैज्ञानिक रंगमंच का प्रश्न है, नाट्य शास्त्र में वर्णित रंगमंच का स्वरूप विश्लेषण अपने आप में पर्याप्त पूर्ण एवं वैज्ञानिक है । साथ ही संस्कृत नाट्य परम्परा इस बात का प्रमाण है कि भारत में कल्पित रंग अवधारणा मात्र सैद्धान्तिक न होकर पूरी तरह से व्यावहारिक थी तथा रंगकला दृष्टिपरक पूरी की पूरी व्यवस्था वैज्ञानिक आधारों पर खड़ी थी । इसके अतिरिक्त भारतीय लोकधर्मी नाट्य परम्परा साक्षी है कि लोक नाट्यों के खुले रंगमंच ने पारसी रंगमंच को प्रभावित किया । संस्कृत नाटकों से कुछ प्रभाव तो पारसी नाटक के लिए ही थे साथ ही अनेक स्तरों पर लोक रंगकला का ग्रहण पारसियों ने किया । जैसे प्रत्येक अंक के अंत में मौन झांकी दिखाने की प्रथा रासलीला तथा रामलीला की झांकियों से प्राप्त हुई ।

वास्तव में पारसी रंगमंच ने सबसे बड़ा योदान हिन्दी भाषा भाषियों को अपनी नाट्य परम्परा की ओर आकृष्ट कराने में दिया । इस प्रकार इसने नाटक की परम्परा को प्रचलित रखा । सभी भारतीय भाषाओं के रंगमंच को प्रभावित करना पारसी नाटक की बहुत बड़ी सिद्धि है । इससे प्रेरणा पाकर विभिन्न शहरों में नाटक क्लब ने । डा0 भानुदत्त शुक्ल का मत है-"पारसी कम्पनियों ने अभिनय कला को शिक्षित तथा उनसे भी अधिक अशिक्षित जनता के मनोविनोद का सर्वप्रमुख साधन बना दिया । श्री जयनाथ नलिन भी स्वीकार करते हैं-"रंगमंचीय नाटकों ने पारसी रंगमंच पर हिन्दी की प्रतिष्ठा करने, प्रशंसनीय कार्य किया, जनता में हिन्दी नाटकों के लिए रुचि उत्पन्न की, उनसे किसी सीमा तक हिन्दी प्रचार को भी गति मिली । xxx

---

x डा0 कृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ0 271

xx डा0 भानुदत्त शुक्ल, भारतेन्दुयुगीन नाट्य साहित्य पृ0 304

xxx श्री जयनाथ नलिन हिन्दी नाटककार पृ0 36

समकालीन लेखक मण्डली ने भी इन्हें घटिया, बाजारू एवं रंगबिरंगे सीन सीनरियों वाला रंगमंच कहकर इनके प्रस्तुतिकरण के स्तर पर ही इनका मूल्य आंका है, तथापित यह तो मानना पड़ेगा कि पारसी थियेटर में रंगमंची भड़क एवं नाटकीय सूझ थी । दर्शक को आकृष्ट करने का फार्मूला इनके पास था और जनरुचि से इनका सम्पर्क बना रहा । इसमें संदेह नहीं कि इस सफलता की प्राप्ति के लिए यह सस्ते मनोरंजन के साधनों के प्रयोग में कसर नहीं छोड़ते थे, किन्तु एक सीमा तक यह बात गलत नहीं कि यह बहुमंतव्यी तथा विविध पक्षीय नाटक हर प्रकार के दर्शकों की तृप्ति करता था । xx पारसी रंगमंचय की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय तथा जातीय गौरव सम्बन्धी नाटकों का सृजन एवं प्रस्तुतिकरण खूब हुआ । अतः यह रंगमंच आंतरिक रूप से शुद्ध भारतीय परम्परा से जुड़ा है । प्राचीन भारतीय जीवन एवं सभ्यता-संस्कृति की गौरव गरिमा के प्रदर्शन का जैसा अद्वितीय कार्य भारतेन्दु एवं "प्रसाद" के नाटकों ने किया, वैसा एक सीमा तक पारसी नाटकों में भी हुआ । डा0 लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है-आगा हश्र कश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद "बेताब" तथा अन्य तथाकथित मुंशियों ने राष्ट्रीयता की दमित भावनाओं से भरपूर नाटकों को लोकप्रिय बनाया । xxx

पारसी नाटकों में प्रयुक्त पौराणिक धार्मिक घटनाओं के चित्रण में विकृति एवं कृत्रिमता थी, किन्तु यह भी सत्य है कि पारसी नाटकों ने हिन्दी के जागरूक बुद्धिजीवी नाटककारों को एक साथ अपने अस्तित्व की मूलभूत शक्तियों एवं स्त्रोतों की ओर उन्मुख होने की दिशा दी । xxxx

---

x डा0 बच्चन सिंह, हिन्दी नाटक पृ0 173

xx श्री बलवंत गार्गी, रंगमंच पृ0 173

xxx साप्ताहिक हिन्दुस्तान 30 जनवरी, 1972 पृ0 27

xxxx हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड, श्री लक्ष्मी कांत वर्मा निबन्ध, हिन्दी रंगमंच पृ0 47।

पारसी रंगमंच की सबसे बड़ी सीमा प्रस्तुतिकरण के स्तर पर थी । सस्ते मनोरंजन के स्तर पर उतर कर जब पारसी नाटक फूहड़ अश्लील अभिनय प्रस्तुत करते थे तो भारतेन्दु अथवा "प्रसाद" जैसे जागरूक साहित्यकारों का प्रतिक्रिया व्यक्त करना स्वाभाविक ही था । यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के सभी नाटककारों में पारसी थियेटर से बचकर चलने का सजग प्रयास है । यद्यपि यह सत्य है कि भर्त्सना करने पर भी भारतेन्दु ने पारसी रंगमंचीय शैली और नाट्यकला के आवश्यक तत्वों को अपनाकर अपने नाटकों को प्रस्तुत किया । x प्रसाद के नाटकों पर भी पारसी रंगमंच की मूलभूत रूढ़ियों,पद्धतियों और शैलियों की स्पष्ट छाप है ।

व्यावसायिक दृष्टि से सफलता की कामना ने पारसी थियेटर के कलात्मक अनुभूतिपरक श्रेष्ठ रूप को ग्रस्त कर रखा था, अभिनय कला के क्षेत्र में पारसी रंगमंच का योगदान श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता । डॉ0 शशि शेखर नैथानी का मत है-"हाँ, अभिनय के क्षेत्र में ये कम्पनियां हिन्दी नाटक को कुछ न दे सकीं-अश्लीलता तथा कामुकतापूर्ण भाव विलास में ये नौटंकियों से भी आगे बढ़ी हुई थीं । xx

अत: पारसी रंगमंच का महत्व इस बात में है कि इसने हिन्दी नाट्य परम्परा को जीवित रखा, पूर्ण रूप से व्यावसायिक रंगमंच होने के कारण हिन्दी रंगमंच के विकास में किसी नयी रंगदृष्टि की खोज करने में यह असमर्थ रहा ।

---

x डा0 देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटक पृ0 262

xx डा0 शशि शेखर नैथानी, जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन पृ0 14

§घ§ लोक नाट्य परम्परा का रंगसंस्कार

संस्कृत-रंगमंच के पतन के पश्चात् मुस्लिम आक्रमणों के कारण जीवन में अस्त व्यस्तता आ गयी । राजाश्रय का अभाव हो गया तथा भारतीय रंग परम्परा मध्य-काल में केवल लोक-नाटकों के रूप में ही जीवित रह सकी । "रंगमंच" नामक अपने निबन्ध में ऐतिहासिक राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए प्रसाद जी ने महत्वपूर्ण मत प्रस्तुत किया है-"मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया । धर्मान्ध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मण्डपों में छोटे-मोटे अभिनय सर्व साधारण के लिए सुलभ रह गये ।" x

यहाँ "प्रसाद" जी का मत सिद्ध करता है कि किस प्रकार राजनीतिक एकता खण्डित हो जाने के अन्य कारण भी थे । उदाहरणार्थ संस्कृत नाटक अधिकतर उच्च वर्ग प्रमुखत: राजन्य वर्ग का ही प्रतिबिम्ब बन कर रह गया था । अत: भरत मुनि के नाटक को पंचमवेद मानने वाली बात मात्र सिद्धान्त के रूप में शेष रह गयी थी । सुप्रसिद्ध नाट्य सर्जक एवं रंग-आलोचक जगदीश चन्द्र माथुर ने संस्कृत नाटकों के पतन के कारणों की छानबीन करते हुए कहा है कि "यहाँ विचार-तत्व, आध्यात्म-विश्लेषण, जीवन दर्शन, मनोरंजन और नीति तथा धर्म का उपदेश आदि का अभाव सा है । " xx

आधुनिक भारतीय नाटकों को संस्कृत नाट्य से जोड़ने वाली मूल श्रृंखला विविध क्षेत्रीय नाटकों की है । वस्तुत: यह लोक नाट्य परम्परा भारतीय जन साधारण के बीच संस्कृत नाटकों के चरमोत्कर्ष काल में ही विद्यमान थी । रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवत मेल आदि आधुनिक आंचलिक नाट्य विधाओं का उद्भव श्री जगदीश चन्द्र माथुर संस्कृत नाट्य काल में उपस्थित सांगीतक §संगीत-नृत्य-संवाद मिश्रित शैली§ मानते हैं । xxx उनके विचार से लक्षणकारों ने यद्यपि इस नाट्य शैली का उल्लेख नहीं किया, तथापित नाटककारों तथा लेखकों ने "सांगीतक" शब्द का व्यवहार किया है । xxxx

---

x जयशंकर "प्रसाद" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 101

xx जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 4

xxx जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 10

xxxx जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य प्रस्तावना

संस्कृत रंगकला के मध्यान्ह से चली आती होने के कारण श्री माथुर लोक नाट्य शैली को "परम्पराशील नाट्य" नाम देना अधिक उचित समझते हैं। x परन्तु यहां इन विविध नाट्य-रूपों को लोक नाट्य कहना ही अधिक समीचीन होगा, क्योंकि इन नाटकों की मूलभूत विशेषता इनका लोक-जीवन तथा लोक मानस से सम्पृक्त होना ही है। अपनी इसी विशेषता के कारण शताब्दियों से इन नाटकों की अविरल धारा अबाध रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। राजनैतिक अस्थिरता तथा धार्मिक उथल-पुथल के काल में इन्होंने सदैव समयानुकूल रूप लेकर जनरुचि को अभिव्यक्ति दी। लोक नाट्य अपनी प्रवृति में बहुरंगी तथा प्रयोगशील था एवं बदलती हुई परिस्थितियों में अपने को ढालता रहा साथ ही लोक चेतना एवं लोकजीवन के विषादोल्लास का सीधा एवं अकृत्रिम रूप यहां मुखर है। इसीलिए इन नाट्य-रूपों का हमारे रंग जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है तथा आधुनिक काल का प्रत्येक सजग रंगचिंतक इस तथ्य से परिचित है। श्री नेमिचन्द्र जैन की राय है-"कई दृष्टियों से उसमें संस्कृत-रंगमंच से कहीं अधिक विविधता है। सबसे बड़ी बात है कि वह आज भी जीवित है। यद्यपि जीवतता कई स्तरों पर है। कोई गम्भीर शहरी रंगकर्मी बहुत दिनों तक लोक नाट्य की उपेक्षा नहीं कर सकता और कभी न कभी उसे रंगकार्य के इस पक्ष के साथ अपना कोई न कोई सम्बन्ध बनाना पड़ता है।" xx

देश की असंख्य जनता के अधिक समीप होने के कारण ही इस विधा को श्री माथुर पंचमवेद की संज्ञा की वास्तविक अधिकारिणी मानते हैं। xxx

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लगभग चौबीस प्रकार की लोक नाट्य शैलियां उपलब्ध हैं- रामलीला, रासलीला, बंगाल में जात्रा, असम में अंकिया नाट, बिहार में अंकिया नाट और कीर्तनियां नाट तथा बिदेसिया, गुजरात में भवई, मध्य प्रदेश में मांच राजस्थान में ख्याल तथा रम्मत, महाराष्ट्र में तमाशा, उत्तर प्रदेश हरियाणा तथा पंजाब में नौटंकी स्वांग तथा कश्मीर में भाण्डजशन, हिमाचल प्रदेश में करियालां, केरल में

---

x जगदीश चन्द्र माथुर परम्पराशील नाट्य प्रस्तावना पृ0 5

xx नेमिचन्द्र जैन, रंगदर्शन पृ0 80

xxx जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 5

कूडियारटम औरचविट्ट, तमिलनाडु में भागवत मेल, मैसूर में यक्षगान, आन्ध्र प्रदेश में कुचिपुडी । इनमें यात्रा लोक रंगमंच का सर्वाधिक सशक्त एवं सुगठित रूप है, जिसने आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित एवं समृद्ध रूप ग्रहण करते हुए पर्याप्त परिष्करण प्राप्त किया है ।

मध्यकाल में प्रचलित विविध नाट्य रूपों की प्रकृति दो प्रकार की होती है- लौकिक तथा धार्मिक । धार्मिक जन नाटक की पांच भिन्न शैलियां दृष्टिगत होती हैं- राजस्थान में रासक, ब्रज में रासलीला, काशी तथा अयोध्या में रामलीला, मिथिला में कीर्तनियां नाट तथा असम में अंकिया नाट । तेरहवीं शताब्दी में हिन्दी क्षेत्र की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में लोक नाट्य परम्पराएं गतिशील हो उठीं । राजस्थान और गुजरात में पहले पहल लोक नाट्य रूप उभरते हुए दृष्टिगत होते हैं । डा0 दशरथ ओझा ने अपनी खोज के अनुसार हिन्दी का प्रथम नाटक "गय सुकुमार रास" माना है । अपभ्रंश तथा राजस्थानी भाषा में सृजित इस नाटक में रास के सभी तत्व विद्यमान हैं तथा संस्कृत नाटक का मंगलाचरण तथा आशिर्वचन भी मिलता है । उस समय रास, रासक, प्रेक्षणक, हल्लीसक तथा सांगीतक का प्रचार था । मुनि जिन विजय ने ऐसे सैकड़ों नाटकों का पता लगाया था जिनमें अब्दुल रहमान का "संदेश रासक" बहुत महत्वपूर्ण है । डा0 ओझा ने इस रचना को दृश्य काव्य के अन्तर्गत रखने का अनेक तर्कों से आग्रह किया है क्योंकि बहुरूपिये अथवा अभिनेता रासकों का प्रदर्शन कथोपकथनों के रूप में किया करते थे । x रासक संगीत एवं नृत्य से परिपूर्ण होते थे । संगीत रूपकों का आदि रूप मानते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें लोक नाटकों का शक्तिशाली रूप माना है । xx रासो ग्रन्थ धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, नैतिक आदि सभी विषयों पर उपलब्ध है । रास के साथ ख्याल नाटक चल पड़े । इस प्रकार राजस्थान में रंग बिरंगे खुले रंगमंच की परम्परा मिलती है ।

---

x दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास पृ0 93

xx आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ0 99

सभी प्रकार के मध्ययुगीन लोक नाटकों के मूल उद्‌गम स्त्रोत "सांगीतक" में श्री जगदीश चन्द्र माथुर के मतानुसार पांच तत्व होते हैं-गीत, वादन, नृत्य, रंगशाला तथा नट नटी । x भाषा सांगीतकों की रचना सर्वप्रथम मिथिला, नेपाल तथा असम में हुई । संस्कृत में मालविकाग्निमित्र xx तथा अन्य ग्रन्थों में सांगीतक का उल्लेख है ।

मध्ययुग में वैष्णव धर्म के आन्दोलन के फलस्वरूप जन नाट्य रंगमंच उभरता हुआ दिखायी देता है । मुख्यत: इस समय कृष्ण और राम के जीवन सम्बन्धी लीलाओं का प्रदर्शन हुआ । चैतन्य महायुद्ध के कृष्णलीला परक अभिनयों के सम्मोहक रूप ने सम्पूर्ण बंगाल में जात्रा को लोकप्रिय बना दिया । मिथला के कीर्तनियां नाट तथा असम के अंकिया नाट के पीछे भी यही प्रेरणा रही । 15वीं से 18वीं शताब्दी तक मैथिली में लगभग इस प्रकार 106 नाटक वैष्णव रंगमंच की पूर्वी शाखा से प्रस्तुत हुए, जिनको राजदरबारों ने स्थायी तथा सजीव रूप दिया । xxx ये पूर्वी वैष्णव रंगमंच मिथिला के जनजीवन का जीवंत अंग था क्योंकि यहां समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों तथा उत्सवों को नाटक में प्रस्तुत किया जाता था । संगीत वाद्य का विशेष महत्व था । श्री माथुर इन कीर्तनियां नाटकों की रूपरेखा पाश्चात्य ओपेरा के समकक्ष मानते हैं ।xxxx

मंदिरों में पल्लवित धार्मिक रंगमंच के दो रूप मध्ययुग से चले आ रहे हैं- रामलीला और रासलीला । श्री बलवन्त गार्गी इसे जलूस झांकियों वाला नाटक कहते हैं । xxxxx

---

x जगदीश चन्द्र माथुर परम्पराशील नाट्य पृ0 11

xx मालविकाग्निमित्र 1/1/2

xxx जगदीश चन्द्र माथुर निबन्ध दिनी रंगमंच और नाट्य रचना का विकास आलोचना जनवरी 1953 पृ0 22-23

xxxx जगदीश चन्द्र माथुर निबन्ध दिनी रंगमंच और नाट्य रचना का विकास आलोचना जनवरी 1953 पृ0 22-23

xxxxx बलवंत गार्गी रंगमंच पृ0 94

वैष्णव आचार्यों तथा कवियों की प्रेरणा से सम्पूर्ण उत्तरी भारत में रामलीला का प्रचार हुआ । रासलीला के आरम्भ एवं विकास का क्षेत्र प्रमुख रूप से कृष्ण की जन्मस्थली वृन्दावन है । मुख्यत: रास देवमंदिरों में ही होता है, कभी-कभी अन्य सार्वजनिक स्थानों या किसी के घर में भी आयोजित किया जाता है ।

सौराष्ट्र के नरसी मेहता को रासलीला का प्रथम संस्थापक माना जाता है । x

श्रीमद्भागवत में रासलीला का विस्तार से वर्णन है तथा गीतगोविन्द रास-लीला के अनुकरण की रचना है । डा0 सोमनाथ गुप्त रासलीला का आरम्भ महाप्रभु वल्लाभाचार्य की मृत्यु के बाद मानते हैं । xx एक मत यह भी है कि वल्लाभाचार्य एवं संगीतज्ञ हरीदास ने रासलीला का आरम्भ किया और इसमें नारायण भट्ट ने पर्याप्त सहयोग दिया । xxx डा0 दशरथ ओझा xxxx तथा विजयेन्द्र स्नातक xxxxx रासलीला के आरम्भ का श्रेय महात्मा हितहरिवंश को देते हैं जिन्होंने [illegible] और स्वामी हरिदास जी की सहायता से रासलीला का आरम्भ किया । श्रीकृष्णदास भी हितहरिवंश को रासलीलानुकरण का प्रथम प्रवर्त्तक मानते हैं । xxxxxx

---

x Mankad, Types of Sanskrit Drama P. 142

xx डा0 सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ0 15

xxx पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ: श्री कन्हैयालाल का निबन्ध, रासलीला का उद्भव और विकास पृ0 88।

xxxx डा0 दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास पृ0 90-91।

xxxxx डा0 विजयेन्द्र स्नातक, राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य पृ0 289

xxxxxx श्री कृष्णदास हमारी नाट्य परम्परा

किन्तु कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह इन विद्वानों के मत से सहमत नहीं हैं तथा ऐतिहासिक एवं परम्परा सिद्ध प्रमाणों के आधार पर वह नारायण भट्ट को रासलीला की अनुकरणात्मक परम्परा का प्रवर्तक मानते हैं । x

भावरूप में रासलीला के प्रति गहन आस्था एवं निष्ठा प्रत्येक कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय में उपलब्ध है । अतः रासलीला की अभिनय परम्परा विशिष्ट शैली के लीला नाटकों के रूप में विकसित हुई । अभिनय तथा रंगमंच का विलक्षण विकास होने के साथ-साथ भाव, राग तथा ताल में विष्णात भाटों की एक ऐसी जाति बन गयी जो वंशानुक्रम से उस परम्परा के संरक्षण के लिए उत्तरदायी रही । xx रासलीला का अभिनय वृन्दाबन के देवालय, कुंज अथवा यमुना तट पर खुले रंगमंच के रूप में होता था ।

आधुनिक काल में प्राप्त होने वाली रासलीला में भी जटिलता का अभाव होता है । रास मण्डल/रास के निर्धारित स्थान के एक सिरे पर चौकी रख कर उस पर सिंहासन रखकर मंच तैयार कर लिया जाता है । दूसरे सिर पर समाजी §गीत, वाद्य, वादक आदि§ बैठते हैं । रास के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में सूर अथवा अन्य किसी संत का पद गाया जाता है । पात्रों को "सरूप" कहा जाता है । आरम्भ तथा अंत युगल की सिंहासन पर झांकी के साथ होता है । एक बार सखियाँ सरूप युगल की आरती भी करती हैं । नेपथ्य का यद्यपि एक सूक्ष्म रूप रासलीला में रहता है, लेकिन उसका प्रयोग केवल झांकी सजाने अथवा आरती के लिए श्रृंगार करने के लिए ही किया जाता है । xxx नृत्य करते हुए समस्त पात्र मण्डल बनाते हैं । यह रास §नृत्य§ लगभग एक घण्टे का होता है । तत्पश्चात् लीला का आरम्भ होता है । इसमें छः सात अभिनेता होते हैं । स्वामिनी सरूप §राधा§ प्रभुसरूप §कृष्ण§ तथा चार सखी सरूप स्त्रियों का अभिनय भी पुरूष ही करते हैं ।

---

x कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह-"हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा" पृ0 100

xx कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह-"हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा" पृ0 117

xxx हिन्दी साहित्य तृतीय खण्ड, निबन्धः लक्ष्मीकांत वर्मा, हिन्दी रंगमंच पृ0 155

पात्रों की वेशभूषा सुनिश्चित होती है जैसे कृष्ण की कटि कांछनी तथा पटुका, पीठ पर झूलती हुई कृत्रिम लम्बी चोटी, मस्तक पर ब्रजरत्न तथा मोर का पंख, कानों में कुण्डल तथा नाक में बुलाक। मंसुखा रासलीला का विदूषक होता है। दृश्य विधान बड़ा ही सरल होता है। युगल की झांकी के लिए दो व्यक्ति एक चादर तानकर खड़े हो जाते हैं। झरोखे के दृश्य में ऐसे ही पर्दे के पीछे से गोपियां झांकती हैं। कुंज के दृश्य के लिए एक शाखा लगाकर उस पर रंग-विरंगे वस्त्र तान दिये जाते हैं।

ब्रज भाषा साहित्य में नाटक तथा लीला शब्द पर्याय है। रासलीला की प्रमुख विशेषता उसका नृत्य तथा संगीत प्रधान होता है। प्रायः सभी पात्र आरम्भ से अंत तक मंच पर सक्रिय रहते हैं। पात्रों के प्रवेश आदि की कोई रूढ़ि नहीं होती गायक जिन पदों का गायन करते हैं, अभिनेता या तो उनका भावाभिनय करते हैं या अभिनय तथा कथन द्वारा उनका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। रासलीला का उद्देश्य सदैव ही भक्तिपरक होता है तथा प्रेक्षकों से आशा की जाती है कि वे स्वरूपों में भगवत्बुद्धि रखें।

वैष्णव रंगमंच का दूसरा शक्तिशाली रूप रामलीला है। काशी की प्रसिद्ध रामलीला की स्थापना स्वयं तुलसीदास ने की थी। x किन्तु डा० श्याम परमार का मत है कि रामलीला प्रदर्शन के अनेक प्रमाण भक्ति-आन्दोलन से पूर्व ही प्राप्त होते हैं। हरिवंश पुराण में रामलीला पर एक नाटक अभिनीत किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। xx रामायण तथा महाभारत काल में "कुशीलव" शब्द गायक तथा अभिनेता का पर्याय था। इस मत की प्रतिष्ठा विद्वान बहुत समय से कर चुके हैं। तुलसी ने रामलीला को इतना जनप्रिय रूप प्रदान किया कि समस्त उत्तरी भारत "सियाराममय" हो गया।

---

x "नई धारा" रंगमंच विशेषांक 1952 निबन्ध, डा० विश्वनाथ प्रसाद हिन्दी नाटक और रंगमंच

xx डा० श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य परम्परा पृ० 24

यही नहीं, एशियाई देशों- कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, थाइलैण्ड, फिजी, मारिशस आदि में रामलीला के मंच काफी समय से प्रतिष्ठित हैं । स्थान भेद के कारण शैलियों में भी भेद है ।

"राम चरित मानस" ऐसा ग्रन्थ है जिसमें रामलीला के लोक रंगमंच का साहित्यिक रूप रक्षित रहा है । मंदिर, मैदान, जलाशय, नहर किसी भी स्थान पर रामलीला की जाती है । संवादों के मंच ने दो रूप ग्रहण किये जिनका अनुकरण समस्त उत्तरी भारत में किया गया । पहला रूप वह है जिसमें लीलाभिनय एक ही स्थान अथवा भिन्न-भिन्न स्थानों तक फैला होता है । दूसरा रूप वह है जिसमें एक विशाल खुले स्थल को घेर कर रंगमंच तैयार किया जाता है । यहां एक ओर लंका तथा अयोध्या का स्थान निर्धारित किया जाता है । विमान तथा पंचवटी बनाये जाते हैं । रामलीला-मैदान के तीन ओर अथवा चारों ओर दर्शक बैठते हैं ।

रामलीला का रंगमंच जितना विशाल और खुला है, रासलीला का उतना ही लघु तथा सीमित । × रामलीला में पात्रों की वेशभूषा तथा विषय आदि का बहुत ध्यान रखा जाता है । "आनन्द रामायण" में रामलीला के मंचन का विस्तारपूर्वक वर्णन है ।

पारसी नाटक के प्रभाव में आकर रामलीला का मंच स्थिर हो गया, किन्तु यह सत्य है कि रामलीला मंच ने हिन्दी नाटक को सदैव जीवित रखा । अंकिया नाट तथा जात्रा पर भी रामलीला का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है । व्यवसायी मण्डलियाँ सुदृढ़ मंच बनाकर ही रामलीला करती हैं, खुले मैदान में नहीं ।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में लौकिक आख्यानों पर आधारित लोक नाटक, पंजाब आदि में नौटंकी, स्वांग, सांग, भगति, बहुरूपिया आदि रूप प्रचलित

× कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 141

है । नौटंकी का स्वरूप अभी तक संगीतपरक है । कुछ विद्वानों का मत है कि यह एक प्रकार का गीतनाट्य है । x स्वांग का दूसरा नाम संगीत नाटक भी है । xx कुछ स्थानों में इसी को भगति कहा जाता है । पंजाब में नौटंकियों को रासधारी भी करते हैं । नौटंकी तथा भांड की चर्चा "प्रसाद" जी ने भी की है तथा इन्हें लोक नाट्यों में प्रमुख माना जाता है । xxx

डा0 सोमनाथ गुप्त ने अपनी खोज के आधार पर औरंगजेब के समय के मौलाना गनीमत की मसनवी "नेरंगे इश्क" में नौटंकी का उल्लेख पाया है । xxxx ध्रुव, प्रहलाद, मोरध्वज, गोपीचंद, भर्तृहरि, पूरनमल आदि जैसे महात्मा तथा ऐतिहासिक योद्धा अमरसिंह राठौर, सुच्चासिंह, सुल्ताना डाकू, रूपमती-बाजबहादुर तथा ठोला मारू तक इन नौटंकियों का विस्तार है । आधुनिक काल में भारतेन्दु की "नील देवी" में नौटंकी का समृद्ध रूप प्राप्त होता है । उन्होंने स्वयं इसे "गीतिरूपक" कहा भी है । इस परम्परा का अन्य महत्वपूर्ण कृति प्रताप नारायण मिश्र का "संगीत शाकुन्तल" है । कुछ लोग अमानत की "इन्दर सभा" को इस श्रेणी की उत्तम रचना मानते हैं ।

नौटंकी का रूप धीरे-धीरे विकार ग्रस्त होता गया । मुसलमानी प्रभाव में नौटंकी में जो स्त्रैणता आई उसका सबसे उपयुक्त प्रमाण कुंवर साहब के मत से "इन्दर सभा" में मिलता है । xxxxx

---

x श्री बलवन्त गार्गी, रंगमंच पृ0 92

xx सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, डा0 दशरथ ओझा, हिन्दी लोक नाट्य का शैली शिल्प पृ0 481

xxx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 71

xxxx डा0 सोमनाथ गुप्ता, हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास पृ0 17-18

xxxxx कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 39

वर्तमान काल में नौटंकी पर सिनेमा आदि का प्रभाव बढ़ा है । श्री नेमिचन्द्र जैन का विचार है, कलात्मक और सांगठनिक दोनों दृष्टियों से नौटंकी, स्वांग, भगत आदि उत्तर भारत के सभी लोक-नाट्य प्रकार बड़ी शोचनीय स्थिति में है । × आजकल नौटंकी में संवादों तथा गीतों की भाषा प्रादेशिक होती है । लोकधुनों का प्रयोग होता है । संवादों के साथ भी संगीत प्रयुक्त होता है । नृत्य का प्रयोग किया जाता है । सम्पूर्ण नौटंकी की व्यवस्था करने वाले गुरु को "रंगा" कहा जाता है । वही संवादों की बीच में व्याख्या करता है, कथासूत्रों को जोड़ता है । नान्दी, सूत्रधार, विदूषक तथा नायक-नायिका आरम्भ से अंत तक रंगमंच पर विद्यमान रहते हैं । रंगमंच पर धूम्रपान आराम से चलता है । तख्तों को जोड़कर तैयार किये गये मंच पर परदे आदि की आवश्यकता नहीं होती । संगीत वाद्य वादक मंच पर ही बैठते हैं ।

इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दुखान्त नाटकों का प्रचलन यहां पर्याप्त मात्रा में है । डा० दशरथ ओझा ने उचित ही कहा है-"यह तो निःसंदेह कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य में त्रासदी की जितनी अधिक रचना लोक नाट्यों में है उतनी कदाचित अन्यत्र नहीं" । ×× इन नाटकों में आध्यात्मिक शक्तियों को महत्व अधिक दिया जाता है तर्क को कम ।

स्वांग का एक अन्य रूप भांडों का तमाशा है । यह एक प्रकार का प्रहसन है । इसका अस्तित्व भी लोक नाटकों में काफी पुराना है । नाट्यशास्त्र में वर्णित "भाण" की परम्परा समय के साथ-साथ विकृत होती गयी और मुस्लिम समय में भांडों की अश्लील भंड़ैती में परिवर्तित हो गई । ×××

× श्री नेमिचन्द्र जैन रंगदर्शन, पृ0 88

×× सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, निबन्ध डा0 दशरथ ओझा हिन्दी लोक नाट्य का शैली शिल्प पृ0 482

××× कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 42

एक अन्य प्रदर्शन बहुरूपिया के नाम से प्रचलित है । यहाँ एक पुरुष अपने ऊपर अनेक पात्रों का आरोप करता हुआ सभी के अभिनय करता है । यह कला भी मध्ययुग से चली आती प्रतीत होती है, क्योंकि वरकत उल्ला के सत्रहवीं शताब्दी में रचित "प्रेम प्रकाश" में इसका उल्लेख है ।

मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में दो लोकनाट्य रूप प्रचलित है-"ख्याल"और "माँच" । राजस्थान में गुजरात के "भवई" से मिलता जुलता एक अन्य नाट्य रूप प्रचलित है । बोरा-बोरी × माँच में अन्य नाट्य रूपों से भिन्न कुछ विशेषताएं हैं, जैसे हाथों में लम्बी-लम्बी बहियां लेकर माँच के प्रेरक अभिनेताओं के पीछे-पीछे चलते हैं । अपनी बहियां से प्रेरक जितना अंश पढ़ते हैं अभिनेता उसी का अभिनय करते हैं । माँच के इस रूप के निर्माता बाल मुकुन्द गुरू हैं ।

गुजरात की भवई में गुजराती के साथ-साथ हिन्दी भाषा भी प्रयुक्त होती है । गीत नृत्य संवाद युक्त इस नाटक में गद्य का प्रयोग बड़े ही नाटकीय ढंग से होता है । खुले मैदान में गोलाकार बैठे हुए प्रेक्षकों के बीच की गोल रंगस्थली चाचर कहलाती है । बंगाल की जात्रा का रूप भी संगीत नाट्यपरक होता है । इसका विषय अधिकतर धार्मिक वीररस युक्त तथा प्रेमपरक होता है । नाटकीय गुणों से पूर्ण जयदेव, चण्डीदास तथा विद्यापति की कविताएं इसमें प्रयुक्त होती हैं । जात्रा का मंच आज भी बहुत ही सुगठित एवं समृद्ध पर्यटक मंच है ।

अन्य प्रमुख लोकनाट्य रूपों में अवध के सँफेड़ा, छत्तीसगढ़ के "नाचा", बिहार के "बिदेसिया" आदि का विशेष महत्व है । कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह के एक अन्य लोक नाट्य रूप "वाद" अथवा चर्चा का भी उल्लेख किया है । ×× इन पद्यात्मक नाटकीय

× डा० श्याम परमार निबन्ध, लोक रंगमंच का विदूषक , एक सम्पर्कसूत्र साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 14 मार्च 1976 पृ० 26

×× कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य औरंगजेब की मीमांसा भूमिका पृ० 162

संवादों की परम्परा मध्यकाल में चली । नरहरिकृत "धन और विद्या कौ वाद" तथा दुलारे कवि का "सोन लोहे कौ झगरौ" इस प्रकार की कृतियां हैं । इस ढंग के गद्य संवाद भारतेन्दु ने "हरिश्चन्द मैगजीन में निकाले, "दो मित्रों का वार्तालाप" x तथा "सर्व जात गोपाल की" । xx

कहा जाता है कि लोक रंगमंच की निरन्तर प्रवाहित जीवंतता का रहस्य उसमें निहित नाट्य सृजन एवं रंगकर्म की वे शाश्वत पद्धतियां, रूढ़ियां एवं मान्यताएं है जो जनजीवन में घुली मिली हैं तथा समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको ढालती रही हैं । वस्तुत: यह नाट्य रीतियां युगों से चले आ रहे अभिनेता प्रेक्षक सहयोग का परिणाम है । मुक्त वायुमंडल में अभिनीत इन नाटकों में यथार्थ का भ्रम तोड़कर उत्पन्न होने वाला सरस काव्यमय संगीत विद्यमान है जो कृत्रिम बन्धनों को तोड़कर हुआ सहज भावों को मुखरित करता रहा है । रंग सज्जा आदि की कृत्रिम रूढ़ियों के अभाव में पूरा बल अभिनय पक्ष पर होने के कारण प्रेक्षक एवं अभिनेताओं के मध्य विशेष आत्मीय तन्मयता का भाव यहां उत्पन्न हुआ है जो युगों से लोक जीवन को अपने में सराबोर किये है ।

इसी समय मध्ययुगीन ब्रजभाषा नाटकों पर दृष्टि डालना भी अपेक्षित है । अधिकांश तो संवाद रूप होने के कारण ही नाटक कहे गये हैं, जैसे प्राणचन्द चौहान का "रामायण महानाटक" अथवा हृदयराम का "भाषा हनुमन्नाटक" में संवाद तथा कथा तत्व दोनों का ही अभाव है ।

मध्यकाल में सर्वांगपूर्ण लिखा गया नाटक केवल गोविन्द हुलास नाटक ही है । इसकी खोज कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने 1956 में की थी । गोविन्द हुलास नाटक की प्राप्ति से पूर्व यही माना जाता था कि मध्यकाल में नाट्य परम्परा सर्वथा विच्छिन्न हो गयी थी । किन्तु कुंवर साहब के प्रयास से गोविन्द हुलास की उपलब्धि ने हिन्दी की साहित्यिक नाट्य परम्परा के प्रवाह को निर्विवाद सिद्ध कर दिया । कुंवर साहब के इस योगदान के परिणाम स्वरूप हिन्दी के साहित्यिक नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु युग से न मानकर लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व से माना जाने लगा ।

तृतीय अध्याय

रंगशिल्प के विविध आयाम

- दृश्य संरचना
- वेशभूषा एवं रूपविन्यास
- प्रकाश संयोजन
- ध्वनि-संयोजन एवं संगीत योजना
- प्रेक्षागृह एवं प्रस्तुतिकरण

अध्याय: तीन : रंग शिल्प के विविध आयाम

{1} रंग सज्जा {दृश्य बंध या दृश्य संरचना}

नाट्य प्रस्तुतीकरण में दृश्य विधान पृष्ठभूमि का काम करता है, यवनिका उठते ही प्रेक्षक का प्रथम परिचय रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य बंध से होता है। पात्रों के मंच पर प्रवेश के पूर्व ही वह दर्शकों को बहुत कुछ बता देता है। नाटक के वातावरण को पृष्ठभूमि एक निश्चित सीमा तक प्रभावित करती है। दृश्य बंध अभिनीत होने वाले नाटक के लिए वातावरण की सृष्टि करता है, उसकी मूल वृत्ति को मुखरित करता है। देशकाल की सृष्टि में भी रंग-सज्जा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। नाट्य में वर्णित ऋतु तथा पात्रों की मन:स्थिति को प्रगट करने में रंग-सज्जा सहायक होती है।

संसार के प्राचीन नाटकों में स्टेज-सेटिंग का अधिक महत्व नहीं था। परन्तु पिछली दो शताब्दियों से तो रंग-सज्जा का महत्व एवं उपयोग क्रमशः अत्यधिक बढ़ता रहा है। रंगमंच का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते समय शेलान चेनी ने अपनी पुस्तक में लिखा है: "किंतु उपलब्ध माध्यम के प्रसाधनों {जैसे काव्य में शब्द, अथवा चित्रकला में रंग आदि} की भी अभिव्यक्ति के सौष्ठव की दृष्टि से, अपनी महत्ता होती है, क्योंकि उन्हीं के सहयोग से चित्रकला में रंगों और काव्य में वर्णों का सुन्दरतम् प्रयोग और रंगमंच अथवा नाट्यकला में कथोपकथन, अभिनय अथवा प्रकाश आदि में प्रभावोत्पादकता सम्भव है। रंगमंचीय कला में मंच पर प्रस्तुत होने वाले जटिल उपकरणों का सृजनात्मक संयोजन तो और भी अधिक अनिवार्य है। अन्यथा प्रदर्शित नाटक के प्रदर्शनात्मक गुण समाप्त हो जाते हैं और जो कुछ शेष रह जाता है, वह या तो केवल काव्यात्मक होता है या फिर केवल परिहासात्मक अथवा सूचनात्मक"। ×

क्लाइव बैल ने नाटक के रूप-सम्बन्धी पक्ष को अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य माना तथा दृश्यकाव्य के "रूपात्मक" पक्ष पर विचार करते हुए अपनी पुस्तक की रचना की।

× {शंभु मित्र "नटरंग" खण्ड 7, अंक 25, जनवरी-जून 75, पृ0 41}

अध्याय: तीन : रंग शिल्प के विविध आयाम

§1§ रंग सज्जा §दृश्य बंध या दृश्य संरचना§

नाट्य प्रस्तुतीकरण में दृश्य विधान पृष्ठभूमि का काम करता है, यवनिका उठते ही प्रेक्षक का प्रथम परिचय रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य बंध से होता है । पात्रों के मंच पर प्रवेश के पूर्व ही वह दर्शकों को बहुत कुछ बता देता है । नाटक के वातावरण को पृष्ठभूमि एक निश्चित सीमा तक प्रभावित करती है । दृश्य बंध अभिनीत होने वाले नाटक के लिए वातावरण की सृष्टि करता है, उसकी मूल वृत्ति को मुखरित करता है । देशकाल की सृष्टि में भी रंग-सज्जा का महत्वपूर्ण स्थान होता है । नाट्य में वर्णित ऋतु तथा पात्रों की मन:स्थिति को प्रगट करने में रंग-सज्जा सहायक होती है ।

संसार के प्राचीन नाटकों में स्टेज-सेटिंग का अधिक महत्व नहीं था । परन्तु पिछली दो शताब्दियों से तो रंग-सज्जा का महत्व एवं उपयोग क्रमश: अत्यधिक बढ़ता रहा है । रंगमंच का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते समय शैलान चेनी ने अपनी पुस्तक में लिखा है: "किंतु उपलब्ध माध्यम के प्रसाधनों §जैसे काव्य में शब्द, अथवा चित्रकला में रंग आदि§ की भी अभिव्यक्ति के सौष्ठव की दृष्टि से, अपनी महत्ता होती है, क्योंकि उन्हीं के सहयोग से चित्रकला में रंगों और काव्य में वर्णों का सुन्दरतम् प्रयोग और रंगमंच अथवा नाट्यकला में कथोपकथन, अभिनय अथवा प्रकाश आदि में प्रभावोत्पादक्यता सम्भव है । रंगमंचीय कला में मंच पर प्रस्तुत होने वाले जटिल उपकरणों का सृजनात्मक संयोजन तो और भी अधिक अनिवार्य है । अन्यथा प्रदर्शित नाटक के प्रदर्शनात्मक गुण समाप्त हो जाते हैं और जो कुछ शेष रह जाता है, वह या तो केवल काव्यात्मक होता है या फिर केवल परिहासात्मक अथवा सूचनात्मक"। ×

क्लाइव बैल ने नाटक के रूप-सम्बन्धी पक्ष को अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य माना तथा दृश्यकाव्य के "रूपात्मक" पक्ष पर विचार करते हुए अपनी पुस्तक की रचना की ।

× §शंभु मित्र "नटरंग" खण्ड 7, अंक 25, जनवरी-जून 75, पृ0 41§

किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्राय: सभी पश्चिमी देशों में यह मत प्रचलित होने लगा कि दृश्य-सज्जा को गौठा स्थान दिया जाय । आधुनिक प्रवृत्ति के नाट्य-चिंतक तथा नाट्यकर्मी यह मानने लगे हैं कि बाह्य टीमटाम तथा उपकरणों एवं यांत्रिक चमत्कार पर इतना अधिक बल नहीं दिया जाना चाहिए कि नाट्यकृति का मूल विषय वस्तु तथा आन्तरिक लयात्मकता गौण रह जाय । किन्तु फिर भी शब्दार्थ के अतिरिक्त रंग-उपकरण नाटक का महत्वपूर्ण अंग तो है ही । "नाटक के एक संतुलित और प्रभावोत्पादक आवश्यक परिवेश के रूप में दृश्य-सज्जा आधुनिक नाटक का महत्वपूर्ण और आत्यांतिक अंग है" । x

"नाट्यशास्त्र" में भरत मुनि ने "रंग-सज्जा" के लिए अनेक रमणीय वस्तु-विधियों की चर्चा की है । "शुद्धादर्शतल" के समान बने रंगशीर्ष xx को वैदूर्य, स्फटिक तथा स्वर्ण से सज्जित करने का विधान है । स्तम्भों पर चित्रकारी के साथ ही भित्तियों पर स्त्री-पुरूष, पुष्प-लताएं तथा मानव जीवन के आत्मभोगजन्य चित्रों के अंकन का वर्णन है । xxx इस प्रकार के कुछ चित्र जोगीमारा गुफाओं में मिले है । xxxx काले, नीले, पीले, लाल रंगों का प्रयोग चित्ररचना में होता था ।

प्राचीन काल में अपनी चरमोन्नति के युग में भारतीय रंगमंच शुद्ध कलात्मक रंगमंच था । अत: दृश्यात्मक परिकल्पना तथा मुख-सज्जा एवं वस्त्र-सज्जा में कहीं भी अतिरेक तथा अतिरचना की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती । डा० रघुवंश के मत से, "भारतीय रंगमंच के दृश्य-विधान की योजना चित्रात्मक अथवा यथार्थवादी कभी नहीं रहीं । पात्र काव्यात्तक श्रेष्ठ शैली में देशकाल का वर्णन प्रस्तुत कर नाटकीय घटना की

---

x शेलान चेनी "रंगमंच" पृ0 572-73

xx नेमिचन्द्र जैन, "रंगदर्शन" पृ0 24

xxx "शुद्धदर्शतलाकार रंगशीर्ष प्रशस्यते, ना0शा0 2/73

xxxx "चित्रकर्मणी चालेख्या पुरूषा स्त्रीजन स्तथन
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम, ना0शा0 2/85

सम्पूर्ण स्थिति की कल्पना दर्शकों में जागृत कर देता है । x परन्तु डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित ने इस मत का खंडन किया है और स्थापित किया है भरत द्वारा निरूपित रंगमंडप, कक्ष्याविभाग तथा अहार्य अभिनय-पद्धति के निरूपण को देखते हुए भारतीय रंग-मंच तथा रंगविधान को नितांत कल्पनात्मक मानना उचित नहीं है । xx

"नाट्यशास्त्र" में दृश्य-विधान प्रस्तुत करने की प्रणालियों का उल्लेख है । एक विधि है आहार्य अभिनय की पुस्त-विधि जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्यों, पशुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रस्तुतिकरण सांकेतिक पुस्तों §माडल्स§ से किया जाता था । xxx इस विधि के दृश्य-विधान द्वारा भरत मुनि ने नाट्या प्रयोग को अधिकाधिक लोकानुरूप बनाने का प्रयास किया था । पुस्त-विधि के तीन प्रकार हैं:-

§क§ संधिम पुस्त की रचना चटाई, कपड़ा, खाल आदि जोड़कर की जाती है । बांस के ढाचों पर इन वस्तुओं को चढ़ाया जाता होगा । इस विधि के द्वारा रंगमंच पर पर्वत, भवन, गाड़ी, ढाल, कवच, झंडा, हाथी, घोड़ा इत्यादि को प्रदर्शित किया जाता है । xxxx

§ख§ व्याजिम पुस्त में वस्तुओं की व्यवस्था तथा योजना यांत्रिक ढंग से की जाती है । अभिनवगुप्त के मत से यह व्यवस्था परदे के पीछे से §सम्भवत: ऊपर से§ सूत्रों के आधार पर की जाती थी । xxxxx इस विधि से रथ, यान, विमान इत्यादि को रंगमंच पर कृत्रिम गति प्राप्त होती है । xxxxxx

---

x "सीताबेंगा केव", लेख किरण व्यपलयाल, "थियेटर और प्लेजर हाउस" नाट्य-त्रैमासिक, दिल्ली, भाग 6, संख्या 1, मार्च 1962, पृ0 18

xx डा0 रघुवंश "नाट्यकला" पृ0 200

xxx डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, "भरत और भारतीय नाट्यकला", पृ0 113

xxxx "शैलयान विमानानि चर्म कर्मध्वजा नमा: । ना0शा0 21/9

xxxxx ना0शा0 21/7

xxxxxxx "अभिनव भारती", भाग तीन, पृ0 109

§ग§ वेष्टिम §पाठांतर "चेष्टम्" भी मिलता है§ पुस्त विधि के द्वारा वत्र को लपेटकर सांकेतिक पुस्त तैयार किया जाता है । इस विधि के अनुसार भौतिक पदार्थों का ज्ञान तद्वत् चेष्टा से भी होता है । x

दृश्य विधान को प्रस्तुत करने की दूसरी भरत निरूपित प्रणाली कक्ष्याविधि है । यह एक महत्वपूर्ण प्रतीकात्मक नाट्य प्रयोग है, जिसकी समस्त विधियां नाट्यधर्मी रूढ़ियों पर आधृत है । अत: इसका प्रयोग परम्परा तथा दर्शक की कल्पना पर आधृत होता है । रंगमंच पर काल्पनिक ढंग से स्थान तथा देश का विभाजन कर लिया जाता है । एक विभाग से दूसरे विभाग पर जाने पर यह समझा जाता है कि पात्र एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा प्रदेश में प्रवेश कर रहा है । नाट्यधर्मी परम्परा द्वारा ही यह निश्चित होता था कि कौन सा विभाग घर, नगर, उपवन, क्रीड़ा, वन, नदी, आश्रम, पृथ्वी, सागर आदि का है । रंगमंच पर एक साथ ही घर के अन्दर तथा बाहर का दृश्य इस विधि के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता था । चूंकि संसार की समस्त वस्तुएं नाट्य-प्रयोग क्रम में यथार्थ क्रम में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होता तथा न ही पुस्त-विधियों द्वारा सब दृश्यों को सर्वथा शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार सरलता से प्रस्तुत करना सम्भव है, अत: यदि आचार्य के मत से कक्ष्याविधि एक नितांत उपयोगी पद्यति है तो नाट्य-धर्मी रूढ़ियों द्वारा संकेतात्मक रूप से सभी प्रकार के दृश्यों का प्रयोग हो सकता है । xx इस विधि के प्रयोग द्वारा भरत मुनि नाट्य प्रयोग को अधिकाधिक प्रकृत प्रतीत कराना चाहते थे । संस्कृत नाट्य-साहित्य के "अभिज्ञान शाकुंतलम्", "स्वप्न-वासवदत्तम्", इत्यादि नाटकों के प्रदर्शन में कक्ष्याविभाग विधि का प्रयोग हुआ होगा । "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में दुष्यंत के रथ की तीव्र गति, मृग का पलायन, दुष्यंत का स्वर्गावितरण इत्यादि इसी विधि द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । xxx

---

x नाOशाO 21/7

xx नाOशाO 21/7

xxx प्रसाद गृह्नानानि नाट्योपकरणानिच
न शक्यानि तथा कर्तुं यथोक्तानीह लक्षणैः ।
लोकधर्मी भवेत् का त्वन्या नाट्यधर्मी तथा परा
स्वभावो लोकधर्मी विभावो नाट्यमेव हि । नाOशाO 21/193

वस्तुत: कक्ष्याविभाग विधि भरतयुगीन रंगमंच की आवश्यकता थी । यह विधि रसोबोद्धन में सहायक होती थी ।

आधुनिक युग में इस विधि की उपयोगिता स्वीकृत की जाती है । "प्रसाद" के नाटकों के बारे में डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित ने लिखा है-"प्रसाद के नाटकों में कल्पित सब दृश्य-योजनाएं पुस्त विधि द्वारा प्रयुक्त नहीं हो सकती हैं, कुंआ में जलप्लावन का दृश्य, पात्रों का आवागमन और इस प्रकार की अनेक दृश्य योजनाएं नाट्यधर्मी रूढ़ियों के सहारे प्रस्तुत की जा सकती हैं । ×

नाट्य शास्त्र में भित्ति चित्रों द्वारा नाट्यमंडप की सज्जा का विधान है ।

पाश्चात्य रंगसज्जा के विकास का इतिहास अनेक प्रकार के परिवर्तनों का इतिहास है । प्राचीन यूनानी रंगमंच पर कोई दृश्यावली नहीं, साज-सज्जा का सामान भी बहुत कम था । ××

विद्वानों का मत है कि मंच पर प्रभाव उत्पन्न करने वाले एक यंत्र का प्रयोग भी यूसिपिडिज ने किया था । इस यंत्र से देवता अथवा मनुष्य मंच से दृश्य-भवन के ऊपरी हिस्से तक बढ़ते थे । कामदीकार इस यंत्र का प्रयोग से हास्यामूलक स्थिति उत्पन्न करते थे । "कलाउड्स" नाटक में सुकरात धरती और आकाश के मध्य लटकती टोकरी में बैठकर दर्शन का अध्ययन कर रहे थे । ××× "एकीक्लोमा" नामक एक यंत्र प्रयुक्त होता था, जो सम्भवत: घूमने वाला मंच था और इसका स्वरूप इस ढंग से बना था कि इसे स्क्रीन से बाहर निकाला जा सके । इसके प्रयोग के बारे में नाट्य चिंतक एस्किलस के नाटक "अगामेमनान" में हत्या के दृश्य का साक्ष्य देते हैं । ××××

× भरतकोश- पृ0 810

×× डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित: भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ0 117

××× शेल्डान चेनी, रंगमंच पृ0 78

×××× शेल्डान चेनी रंगमंच पृ0 79

रोमी स्वभाग के अनुरूप ही वहाँ के रंगमंच का स्वरूप भी चमत्कारप्रिय था । अलौकिक आकार तथा छायाओं के दृश्य, रहस्यमय द्वारों के विलीन होने, बादलों की गर्जन, बिजली की चमक आदि के दृश्यों के प्रदर्शन की रुचि बढ़ी । दृश्यावली का प्रयोग न के बराबर ही था । डा0 रघुवंश का मत है कि इसका निर्देश भी मिलता है कि परदे का प्रयोग रोमी रंगमंच पर होने लगा था । x

यूरोपिय रंगमंच पर दृश्य विधान का विकास मध्ययुगीन चर्च में प्रदर्शित "मिस्ट्री प्ले" में हुआ । "पैशन प्ले" में यांत्रिक चमत्कार के प्रति आकर्षण था । स्वर्ग-नरक के रहस्यमय दृश्य प्रेक्षक को ऐसे रहस्यलोक में पहुँचा देते थे कि दर्शक उनसे अभिभूत होकर उन्हें रहस्यात्मक अलौकिक चमत्कार मान लेता था, घूमने वाले रंगमंच भी प्रयुक्त होते थे, जैसे- इंग्लैंड की मध्ययुगीन गाड़ी-स्टेज ।

देनेसां रंगकला में सजधज तथा अलंकरण का विशेष महत्व था । इस काल में वैविध परक दृश्य चित्रावली का रंगमंच पर प्रयोग हुआ जिसे देखकर लोग थकते न थे । "दृश्यावली" का पूर्ण विकास इसी युग में हुआ । सम्पूर्ण रंगमंच को चित्रित किया जाने लगा । अन्ततोगत्वा चित्रकार ने भवन निर्माणकर्त्ता और बढ़ई के मुकाबिले••• सस्ती {कम व्यवसाय} दृश्य रचना की तथा रंगशाला में दृश्य खंडों का इतना प्रभावोत्पादक चित्रण किया कि उसने अपने प्रतिद्वंद्वियों को रंगमंच के दरवाजे के बाहर निकाल दिया। xx

राजकीय ढंग से सज्जित नृत्यगृह जो कि अब नाट्यशालाओं के रूप में प्रयुक्त हो रहे थे, नाटकीय घटनाओं तथा कार्यों की अन्विति के स्थान पर अब रंगमंच पर दैत्य, दानव, नाग विकट और कल्पित जंतु, रहस्यात्मक-प्रतीकात्मक पात्र, पुराकथाओं तथा नृत्य आदि के अनेकानेक दृश्य-विधान प्रस्तुत करते थे । रंगमंच पर अनेक प्रकार के चित्रों, सज्जित कक्षों, तोरणों, कुजों, झंडियों तथा आकाश की नीलिमा की ऐश्वर्यपूर्ण

---

x डा0 रघुवंश नाट्यकला पृ0 186

xx शैल्डान चेनी, रंगमंच पृ0 238

ढंग से सजावट रहती थी । पुनर्जागरणकालीन चित्रात्मक दृश्य सज्जा की यह परम्परा समस्त यूरोप में बीसवीं शताब्दी तक चली आयी है ।

इसी समय से खुले रंगपीठ के स्थान पर दीवारों तथा घिरे हुए रंगमंच पर नाट्याभिनय होना आरम्भ हुआ । मेहराबदार रंगमंच निर्मित हुए ।

सजधज तथा चमत्कारप्रियता के इस युग में गोप नाट्य परम्परा §पेस्टोरल ड्रामा§ एक प्रकार से कृत्रिमता से पलायन के रूप में विकसित हुई । इन नाटकों का रंगमंच, कुंजों, फलोद्यानों तथा उपवनों से सज्जित किया जाता था । ओपेरा नाटकों के मंच पर रूपांको §डिजाइन्स§ का प्रयोग आरम्भ हुआ । इन भावोद्वेलित गीति-नाट्यों में दृश्य-विधान नृत्य अभिनय तथा यांत्रिक प्रभावों का विशेष महत्व था । यांत्रिक प्रभावों की सहायता से बादलों पर सवारी, स्वर्गीय छायाभास, सूर्य, चन्द्र का घूमना तथा अन्य अनेक ऐंद्रजालिक दृश्य प्रस्तुत किये जाते थे ।

ऐलिजाबेथ्युगीन इंग्लैंड में रंगमंच पर दृश्य-विधान की ओर विशेष बल नहीं दिया जाता था । दृश्य परिवर्तन कवि वर्णित पाठ द्वारा ही निर्देशित होता था । नाट्यशाला युग जीवन की गति, तीव्रता, साहसिकता, उल्लास तथा आत्मश्लाघा का दर्पण बन गयी थी । अपवाद स्वरूप बंद नाट्य ग्रहों तथा इटली की दृश्य सज्जा की मांग बढ़ी, परन्तु इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था ।

क्लासिकीय पद्धति के 18वीं सदी के रंगमंच पर इटली की यवनिका-चौखटा लगाने की प्रथा चली तथा मुखौटे का प्रयोग भी हुआ । इसी काल में फ्रांस के रंगमंच पर तल्मा ने यथार्थ की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया, यद्यपि यह प्रयास आधुनिक यथार्थवादी अभिनय पद्धति से भिन्न था, किन्तु पुरानी कृत्रिम शान शौकत से रंगमंच को मुक्त करने का प्रयास तो हुआ ही ।

आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिकयुगीन नाटक ने रंगमंच के क्षेत्र में किसी विशेष नवीनता की सृष्टि नहीं की । थोड़ा बहुत परिवर्तन यथार्थवादी संवेगात्मक नाटकों के रचनाकाल में हुआ । चित्रित फ्रेम में रंगमंच का अग्रभाग पूर्ववत् ही रहा परन्तु उसकी झालरदार सजावट तथा सामने के द्वार का प्रचलन समाप्त हो गया । अभिनय का सम्पूर्ण क्षेत्र बाहरी परदे के पीछे आ गया और अन्दर की दृश्य-योजना संदूक के ढांचे की §बाक्स स्टेज§ हो गयी । तीन पाश्वों की बजाय दिवार से घिरे हुए बाक्स स्टेज के भीतरी भाग पर किया गया अभिनय प्रेक्षण की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली समझा गया । वास्तविकता तथा एकाग्रता की ओर उठा यह चरण आधुनिक यथार्थवादी रंगमंच का आरम्भ माना जा सकता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल को दृश्य-विधान का सुनिर्मित युग समझा जाता है । आरम्भिक सदी में संरचना चित्रण तथा प्रकाश व्यवस्था के दोषपूर्ण होने के कारण दृश्यबंध अस्वाभाविक हो जाते थे तथा पीछे के परदे और यथाक्रम पाश्र्व विंगों से सम्पूर्ण दृश्य एकरस हुआ करता था/यांत्रिक पिन्जस के साथ टेकदार पटाक्षेप तथा कब्जेदार पाश्र्व का प्रयोग आरम्भ हुआ । किन्तु इन पपाश्र्व विंगों में क्रम की अनिश्चितता तथा अंकित दृश्यों के कब्जों पर सामानांतर स्थिति में घूमने के कारण दृश्य की प्रमुख रेखाएं अपनी प्रभावोन्विति में एकरस हो जाती थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में सम्पूर्ण दृश्यबंध को कर्णवत् तिरछे भागों में विभक्त कर मंच के ऊपरी भाग में पट्टों के सहारे खड़ा किया जाने लगा । दृश्यबंध को पाश्वों की टेक के सहारे खड़ा करने की प्रथा समाप्त हुई । पटचित्रकारों ने रंगमंच को अपनी प्रतिभा प्रदर्शन स्थली बना लिया ।

यथार्थवादी नाट्य रचनाकाल की रंगसज्जा में ड्राप कर्टेन का महत्व तो बढ़ा ही, साथ ही दृश्यावली यथार्थ प्रकृति के अनुरूप बनाने का भरपूर प्रयास हुआ । ऐसी स्थिति में दर्शक अभिनेता सम्बन्धों में एक नवीन प्रकार की तटस्थता उत्पन्न हुई । रंगमंच का सम्पूर्ण स्वरूप रंगशिल्प तथा अभिनयात्मकता दोनों ही दृष्टियों से वास्तविक

जीवन का अधिकाधिक आभास देने के प्रयत्न में लगा रहा । मंच के अग्रभाग में लगे परदे को विचारक उस तिमिरकारी ढक्कन के समरूप मानते हैं जिसे फोटोग्राफर फोटो खींचने के पूर्व अपने कैमरे से हटाता है । उस परदे के उठते ही मंच पर मर्यादित वास्तविकता का आभास होने लगता है । x

गार्डन क्रेग ने विश्व-रंगमंच पर क्रान्ति उपस्थित कर दी । अमेरिका में उनके इस आन्दोलन को साहसपूर्ण किन्तु प्रमत्त आन्दोलन कहा गया । क्रेग कृतित्व की अपेक्षा प्रदर्शन को सर्वोपरि मानते हैं । उन्होंने दृश्यों को अधिकाधिक सहज बनाते हुए चित्रों का प्रयोग मितव्ययता के साथ किया । रंगमंच पर रंग तथा रोशनियों का सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत कर ऐसी समन्वित सज्जा तैयार की कि वह अभिनीत नाटकों की अपेक्षा ललित तथा मोहक प्रतीत हुई ।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर पांचवें दशक तक दृश्य-सज्जाकार ने रंगमंच पर ललित, चमत्कारपूर्ण दृश्यों की अवतारणा पर प्रेक्षक के मानसिक बोध को इंद्रियपरक आनन्द से अभिसिंचित किया जो कि नाट्यकृति को समझने में अधिकाधिक सहायक सिद्ध हुआ ।

वस्तुकलात्मक रंगमंच निर्मित किया गया जिस पर पृष्ठभूमि में कोई परिवर्तन लाये बिना ही कई प्रकार की घटनाओं का प्रदर्शन सम्भव हो सके । इस रीति के अनुसार रंगमंच पर कोई एक ही सुनियोजित संश्लिष्ट दृश्य-सज्जा नाटक के सभी दृश्यों के लिए उपयुक्त सिद्ध हो जाती है । अत्यधिक सजावट की प्रवृत्ति का विरोध किया गया तथा दर्शक अभिनेता के बीच ड्राप कर्टेन की दीवार अनावश्यक समझी गयी ।

---

x शेल्डान चेनी रंगमंच पृ0 246

एक अन्य पद्धति प्रयोगवादियों की है, जिसमें पहले रंगमंच को पूर्ण अंधकार में रखा जाता है फिर केवल अभिनेताओं को बिजली के प्रकाश द्वारा आलोकित करने की व्यवस्था की जाती है ।

इन नवीन पद्धतियों ने अंक दृश्य-परिवर्तन में नष्ट होने वाले समय को बचाया तथा दृश्यबंध के सेटों को परिवर्तित करने की असुविधा को भी दूर किया ।

बिजली की सुविधा प्राप्त होने पर चक्रिल रंगमंच §रिवाल्विंग स्टेज§ का आविष्कार हुआ । चक्रिल मंच अपने ही केन्द्र पर चक्कर लगाकर एक दर्जन दृश्य प्रस्तुत कर सकता है । दर्शक के समक्ष जब तक एक दृश्य चलता है तब तक पीछे दूसरा दृश्य तैयार होता रहता है । एक दृश्य समाप्त होने के तुरन्त बाद ही परदा गिरते ही दूसरा दृश्य प्रस्तुत हो जाता है । पुरानी चमत्कारिक सज्जा वाली रीति का प्रयोग इस मंच पर और भी सरलता तथा सफलता के साथ किया जा सकता है ।

आजकल के रंग निर्माता विस्तृत व्यापक सज्जा तथा भारी भरकम यंत्र उपकरणों से बोझिल मंच का बहिष्कार करते हैं, क्योंकि इनमें मंच पर खड़े अभिनेता का अस्तित्व बहुत ही कम दिखाई देता है । एडोल्फ एप्पिया तथा गार्डन क्रेग के प्रयत्नों से रंग सज्जा के प्रति युग-दृष्टि में बदलाव आया है । एप्पिया के मत से रंगमंच को किसी साधारण कक्ष में बस थोड़ा सा भिन्न होना चाहिए और अन्तर भी वास्तुकलात्मक होना चाहिए । अमरीका में राबर्ट एडमण्ड जोन्स, नार्मन बेलगेड्स, ली साइमन्स, जोसेफ अर्बन, टोलो पीटर्स, मील जाइनर रंग सज्जाकार नवीन से नवीन प्रयासों द्वारा रंगदृष्टि की सार्थकता की खोज करते रहे हैं ।

इसी समय चेकोस्लोवाकिया तथा अमरीका के लघुनाट्य मंचों का आन्दोलन दृश्य विधान के विकास में महत्वपूर्ण है । इन छोटी रंगशालाओं ने दृश्य विधान को इतना सरल बना दिया कि अव्यावसायिक नाट्य संस्थाओं को प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहन

मिल सके । शिकागो के "लिरिता थियेटर" का इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है ।

अन्य महत्वपूर्ण नाट्य प्रयोक्ताओं में स्तानिस्लावस्थी मेयर होल्ड तथा मैक्स रीनहार्त के रंग प्रयोग महत्वपूर्ण हैं । विभिन्न प्रकार के प्रदर्शनों के लिए विभिन्न प्रकार के मंच विधान की सृष्टि की गई- वेगन स्टेज, लिफ्ट स्टेज, ट्रेडमिल स्टेज इत्यादि ।

भारतीय लोक नाट्यों में रंगमंच पर ही गान-मण्डली उपस्थित होती है । अत: स्टेज प्रापर्टी के लिए विशेष स्थान अथवा आवश्यकता नहीं होती । इनमें बैक ग्राउण्ड तथा दृश्यबंध की भी कोई आवश्यकता नहीं होती । यही कारण है कि इन नाटकों का विशेष बल शब्द सौन्दर्य तथा अर्थ चमत्कार पर ही रहता है ।

वस्तुत: परम्पराशील नाट्य में वाणी गति और वेश-भूषा द्वारा रसनिष्पति का आविर्भाव किया जाता है । मंच पर स्थान विशेष सूचक पदार्थों के यथातथ्य अथवा सांकेतिक नियोजन से वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं होती । x

नौटंकी के स्याहपोश के अभिनय में फांसी का चमत्कारपूर्ण दृश्य तथा अंकिया नाट में श्रीकृष्ण का रथ §जिसका निर्माण कुटे हुए कागज से होता है§ पर सवार होकर आना अपवाद स्वरूप ही समझा जाना चाहिए ।

पारसी नाटक में सर्वाधिक ध्यान रंगशिल्प पर दिया जाता था, दर्शकों को चमत्कारपूर्ण दृश्य द्वारा ही प्रभावित करना और रंगशाला में उन्हें बैठाए रखना ही इनका प्रथम उद्देश्य था:- रंगशिल्प में हैरत अंगेज करिश्में दिखाए जाने इसलिए भी जरूरी थे कि उनसे दर्शक चमत्कृत हो नाटक के सारे दोषों की ओर ध्यान ही न दे सकें । xx

---

x शेल्डान चेनी, पृ0 599

xx जगदीश माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 66

पारसी स्टेज के बीच में एक कुंआ रहता था जिसका रास्ता सुरंग बनाकर भी रखा जाता था । जहां बिजली की रोशनी रहती थी पृथ्वी में धंस जाना, पृथ्वी से निकल आना, देवी देवताओं का प्रकट अथवा अन्तर्धान होना इसी के द्वारा होता था । पुष्पक विमानों को हवा में उड़ाने, आकाश से परियों को उतारने आदि के लिए एक मशीन का प्रयोग होता था, भड़कीले रंगों में चित्रित एक बड़ा अंतिम परदा मंच के पीछे टंगा होता था जो कि समस्त पृष्ठभूमि का काम देता था । आंधी, बिजली, देवों का हवा में उड़ना, जंगल और सिंहासन का चलना, अभिनेता के मुख से आग निकलना, मुख से सांप निकलना, भयंकर विकराल नारकीय मूर्तियों का प्रदर्शन इत्यादि के चमत्कारिक दृश्य तथा युक्तियां उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैंड के ड्रूरीलेन थियेटर की भड़कीली दृश्य सज्जा की सीधी नकल थे । ×

ड्राप-कर्टेन उठाने गिराने के लिए दोनों पार्श्वों में व्यक्ति खड़े रहते थे । अतिरंजना प्रधान, भड़कीली दिखावटी रंगसज्जा प्राय: अपने आप में साध्य समझी जाती थी जिसकी नाटकीयता का भाववस्तु की गहनता तथा कलात्मकता से कोई तालमेल नहीं होता था ।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भारतीय रंगमंच पर एक बार पुन: नाटकीय विषयवस्तु तथा अभिनय क्षमता की प्रतिष्ठा हुई । इप्टा §जन नाट्य संघ-"इंडियन पीपुल्स थियेटर"§ ने सादा काले पर्दे के सामने नाटक का प्रदर्शन किया । यद्यपि ऐसा इन नाटकों की अपनी सहज साधनहीनता के कारण हुआ था, तथापि इन्होंने यांत्रिक तथा दिखावटी रंग सज्जा के मोह पर प्रथम बार तीव्र आघात किया । तड़क-भड़क एवं अलंकरण के अभाव में इन नाटकों की अपील तात्कालिक, गम्भीर तथा सार्थकथी ।

× डा० लक्ष्मी नारायण लाल, "पारसी हिन्दी रंगमंच" पृ० 107-108

पारसी स्टेज के बीच में एक कुँआ रहता था जिसका रास्ता सुरंग बनाकर भी रखा जाता था । जहाँ बिजली की रोशनी रहती थी पृथ्वी में धँस जाना, पृथ्वी से निकल आना, देवी देवताओं का प्रकट अथवा अन्तर्धान होना इसी के द्वारा होता था । पुष्पक विमानों को हवा में उड़ाने, आकाश से परियों को उतारने आदि के लिए एक मशीन का प्रयोग होता था, भड़कीले रंगों में चित्रित एक बड़ा अंतिम परदा मंच के पीछे टँगा होता था जो कि समस्त पृष्ठभूमि का काम देता था । आँधी, बिजली, देवों का हवा में उड़ना, जंगल और सिंहासन का चलना, अभिनेता के मुख से आग निकलना, मुख से सांप निकलना, भयंकर विकराल नारकीय मूर्तियों का प्रदर्शन इत्यादि के चमत्कारिक दृश्य तथा युक्तियां उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैंड के ड्रूरीलेन थियेटर की भड़कीली दृश्य सज्जा की सीधी नकल थे । x

ड्राप-कर्टेन उठाने गिराने के लिए दोनों पाश्वों में व्यक्ति खड़े रहते थे । अतिरंजना प्रधान, भड़कीली दिखावटी रंगसज्जा प्राय: अपने आप में साध्य समझी जाती थी जिसकी नाटकीयता का भाववस्तु की गहनता तथा कलात्मकता से कोई तालमेल नहीं होता था ।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भारतीय रंगमंच पर एक बार पुन: नाटकीय विषयवस्तु तथा अभिनय क्षमता की प्रतिष्ठा हुई । इप्टा §जन नाट्य संघ-"इंडियन पीपुल्स थियेटर"§ ने सादा काले पर्दे के सामने नाटक का प्रदर्शन किया । यद्यपि ऐसा इन नाटकों की अपनी सहज साधनहीनता के कारण हुआ था, तथापि इन्होंने यांत्रिक तथा दिखावटी रंग सज्जा के मोह पर प्रथम बार तीव्र आघात किया । तड़क-भड़क एवं अलंकरण के अभाव में इन नाटकों की अपील तात्कालिक, गम्भीर तथा सार्थकथी ।

---

x डा0 लक्ष्मी नारायण लाल, "पारसी हिन्दी रंगमंच" पृ0 107-108

इसी समय पश्चिमी यथार्थवादी रंगमंच की धारा भी भारत में आयी । ड्राइंगरूम, फर्नीचर, रंगे हुए फलकों पर खिड़कियां, दरवाजे आदि की सज्जा की यह प्रवृत्ति सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता में भी बढ़ी । रुचिविहीन बौद्धिक, निर्जीव रंगसज्जा मंच पर ठहर गयी ।

किन्तु युद्धोत्तर काल में पुन: नवीन रंग दृष्टि की खोज आरम्भ हुयी । अब तो हमारे यहां माना जाने लगा है कि दृश्य बंध एक ओर तो कार्यमूलक हो तथा दूसरी ओर अभिनेताओं की गति एवं कार्य के साथ सम्बद्ध हो । अतिरिक्त अलंकरण को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति का प्रसार हुआ है । दृश्यबंध का स्वरूप-आकृतियां, रेखाएं, प्रयुक्त सामग्रियों के रंग रूप सभी को अपने स्ट्रक्चर तथा टेक्सचर में सुचिंतित, समन्वित, सुकल्पित तथा निर्देशक के अर्थ निर्णय से सम्बद्ध बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

आधुनिक रंगसज्जा की मुख्यत: तीन प्रविधियां प्रचलित हैं- (1) चित्रांकित रंग-सज्जा (2) प्रकृतिवादी रंग सज्जा तथा (3) प्रतीक रंग-सज्जा ।

(1) चित्रांकित रंग-सज्जा में रंगे हुए पर्दों, पार्श्वों इत्यादि का प्रयोग किया जाता है । (2) प्रकृतिवादी अथवा यथार्थवादी रंग सज्जा में बाक्स-स्टेज पर ड्राइंगरूम, होटल, मंदिर, गांव, दुर्ग, कारागृह इत्यादि के यथार्थपरक दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं । त्रिभुजीय, दृश्यबंध में चतुर्थ भुजा तथा छत की कल्पना स्वयं सामाजिक कर लेता है । लकड़ी तथा कैनवास के बने फलकों (फ्लैट्स) का काट-छांटकर खिड़कियां, दरवाजे इत्यादि बनाये जाते हैं । इन खिड़कियों तथा दरवाजों के पीछे "गगनिका" (साइक्लोरामा या पृष्ठ-पट का प्रयोग किया जाता है, जिससे दृश्यानुकूल चित्रांकन के द्वारा दूरवर्ती आकाश, बादल, तारे, वन अथवा पर्वत-शिखर आदि का बोध कराया जा सके । स्टेज प्रापर्टी के रूप में फर्नीचर, अल्मारी तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग कर स्वाभाविकता का आभास कराया जाता है । (3) प्रतीक रंग-सज्जा में वास्तविक दृश्य प्रस्तुत करने के स्थान पर प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है । जैसे कि प्लाईवुड अथवा मोटी दफ्ती

रंग कर बनाया गया एक वृक्ष तथा उसके नीचे की झोपड़ी पूरे गांव का प्रतीक बन जाती है । गगनिका की सुविधा द्वारा पृष्ठभूमि में आलोक से सांझ सवेरा इत्यादि दिखाया जा सकता है । यह पद्वति आज अधिक मान्य हो गयी है ।

रंग-सज्जा के लिए रंग परिज्ञान बहुत ही सूक्ष्म तथा विकसित होना चाहिए । रंगीन आलोक पड़ने पर किस रंग का प्रयोग अधिक प्रभावपूर्ण होगा, इस बात का उसे व्यवहारिक अनुभव होना चाहिए । उदाहरणार्थ लाल रंग पर हरा आलोक पड़ने पर लाल रंग काला दिखायी दे उठता है ।

उपर्युक्त तीन दृश्य-बंध सम्बन्धी विधियों में से पहली-चित्रांकित परदों की विधि के स्थान पर अब नवीन विधा प्रयुक्त होने लगी है- पर दृश्य बंध {कर्टेन सेटिंग} एक या दो रंगों के परदों का उपयोग होता है । एक बड़े परदे के स्थान पर पांच छ: फुट की चौड़ाई के कई परदे फलक की भांति अलग-अलग प्रयुक्त होते हैं । यह प्रयोग त्रिभुजीय दृश्य बंध की तुलना में सस्ता होता है तथा दृश्य-परिवर्तन सम्बन्धी सुविधा भी रहती है । द्वारा-खिड़की आदि भी कई रंगों के पर्दों से बना लिए जाते हैं । परदों में ऐंठन डालकर स्तम्भ भी बनाये जा सकते हैं । पृष्ठभाग में गगनिका का प्रयोग किया जाता है ।

मुक्तकाशी रंगमंच में रंग-सज्जा सरल एवं सुगम होती है । अधिक तड़क-भड़क का महत्व नहीं होता । प्रयोगधर्मिता एवं कल्पना के सहयोग की अधिकाधिक सम्भावनाएं इसमें होती हैं । x आकाश रेखा रंगपीठ ऊपर, दायें-बायें तथा पीछे पूर्णत: खुला रहता है । इसमें दृश्यपीठ तीन प्रकार के प्रयुक्त होते हैं- {1} द्वि-परिमाणीय दृश्यपीठ {टू डायमेन्शनल फ्लेट सेटिंग}, {2} त्रि-परिमाणीय दृश्यपीठ {थ्री डायमेन्शनल फ्लेट सेटिंग}, {3} स्थिर दृश्यपीठ {स्टेबिल सेटिंग} इस मंच की प्रकाश व्यवस्था भी नवीन शैली की होती है ।

---

x बलवंत गार्गी, "रंगमंच" पृष्ठ- 171

{2} वेशभूषा तथा रूप-विन्यास

"नाट्यशास्त्र" में भरत मुनि ने अंग रचना तथा वेश-विन्यास को आहार्य अभिनय के अन्तर्गत स्थान दिया है । पात्रों की अनुरूप तथा प्रकृतिगत वेशभूषा, अंग-सज्जा तथा अलंकरण का महत्व केवल ब्राहठावरण के रूप में ही नहीं, अपितु पात्रगत विशिष्ठता के रूप में भी है । अभिनवगुप्त की दृष्टि से समस्त अभिनय व्यापारों के उपशमन के उपरान्त भी नेपथ्य-विधि के द्वारा प्रस्तुत रूप-रंग का आलोक विशेष रूप से सामाजिक के हृदयाकाश में प्रतिभासित होता रहता है । x

प्राचनी यूनानी नाट्याभिनय में भी वस्त्र-सज्जा {कॉस्ट्यूम} का विशेष महत्व था । भारी-भरकम वस्त्रों, मोटे तल्ले के जूतों एवं मुखौटे का प्रयोग अभिनेता को विशिष्टता प्रदान करने के लिए किया जाता था । मुखौटा एक परम्परा की वस्तु थी, जिसका प्रयोग प्रतीकात्मक होता था । इन मुखौटों के अध्ययन से प्रगट होता है कि जब इन्हें विशिष्ट ढंग से हिलाया डुलाया जाता था तो इनसे एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति सम्भव होती थी । इनके प्रयोग से जहां मानवीय भावों की अभिव्यक्ति सीमित होती थी, वहीं देवताओं के अनुरूप भावाभिव्यक्ति अधिक सुकर होती थी । xx थेस्पिस ने "मेक-अप" {रूप सज्जा} को इतना महत्व दिया कि रंगों के प्रयोग ने चेहरे को एकदम बदल दिया ।

संसार के विभिन्न देशों की नाट्यकला में अपनी-अपनी परम्परा तथा सांस्कृतिक अवधारणाओं के अनुसार देव-दनुज, स्त्री-पुरुष, बालक, वृद्ध आदि के वस्त्र, अलंकरण, केश-विन्यास, मुख तथा अंग-सज्जा का विधान किया गया है । इसके चुनाव तथा रूपांकन में

---

x Huge Hunt, 'The Director in the Theatre' p. 88

xx "तेन समस्तभिनय प्रयोग चित्रस्यभित्ति स्थानीय माहार्यम् ।
तथा च समस्ताभिनयव्युपर मेडपि नेपथ्य-विशेषदर्शनादि
विशेषो वसी यतएव ।"

"अभिनव भारती" भाग-2 पृ0 109

चार बातें ध्यातव्य समझी जाती हैं- पात्र की भूमिका, उसकी वय तथा स्वभाव, नाटक का प्रकार तथा देशकाल, इस क्षेत्र में यद्यपि निर्देशक एवं अभिनेताओं की व्यक्तिगत रूचि तथा प्रयोगधर्मिता का महत्व होता है, किन्तु नाटक की सम्पूर्ण योजना, चरित्रों के प्रस्तुतीकरण तथा उनके आन्तरिक सम्बन्धों को दृष्टि में रखकर सभी पात्रों के वेश-विन्यास तथा अंग रचना पर विचार किया जाना अपेक्षित होता है ।

वस्तुत: रूपसज्जा तथा वेश विन्यास का अपना प्रतीकात्मक महत्व होता है । किसी भी जाति की सांस्कृतिक विरासत के यह वाहक होते हैं । ऐतिहासिक पौराणिक पात्र अपने "स्वरूप" के निर्माण अंगरचना तथा वेशविन्यास से तुरन्त ही पहचाने जाते हैं । उदाहरणार्थ राम कृष्ण दोनों ही पीत वस्त्र धारण करते हैं तथा काले रंग के हैं, फूल मालाएं तथा मुख सज्जा भी लगभग दोनों की समान ही है, किन्तु एक के हाथ में धनुष बाण तथा दूसरे के हाथ में मुरली और सिर पर मोर मुकुट तुरन्त ही उनकी पात्रगत विशिष्टता प्रदान कर देती है । इसी तरह मंच पर राज की भूमिका में प्रस्तुत होने वाले पात्र के परिधान तथा अंग रचना तद्युगीन रीतियों शैलियों तथा परम्पराओं के अनुरूप होगी । डा0 रघुवंश का मत है कि आहार्य के लिए विभिन्न युगों में वेशभूषा तथा रूपसज्जा की शैलियों, रीतियों तथा फैशनों का समुचित ज्ञान उस काल विशेष के साहित्य, कला, शिल्प, चित्रकला एवं मूर्तिकला आदि की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है । x

"नाट्य शास्त्र" में पात्रों के वस्त्रालंकरण केश विन्यास एवं अंग रचना सम्बन्धी विधियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है । पाश्चात्य नाट्य-कला विषयक ग्रन्थों में भी इस प्रकार की अनेकानेक प्रविधियों की चर्चा है । अलाइन वर्नस्टीन द्वारा लिखित "कास्ट्यूम" तथा एम सिग्नोरे का मेकअप निबन्ध इस दृष्टि से पर्याप्त सूचना तथा सम्भावना-परक है । xx

---

x डा0 रघुवंश नाट्यकला पृ0 22

xx Our Theatre today, edited by Hershel L. Bricker

किन्तु इन सबका विस्तृत विवरण न तो आवश्यक है और न ही अपेक्षित, क्योंकि आहार्य सम्बन्धी इन विधियों के बारे में कोई निश्चित एवं ठोस नियमावली §Hard and fast rule § नहीं बनाई जा सकती । प्रत्येक युग की सुविधाओं तथा सीमाओं के साथ-साथ ही अंग रचना तथा वेशविन्यास में प्रयुक्त होने वाली सामग्री तथा प्रयोग विधियों में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता रहा है । कभी बहुत तीखी, गहरी अंग सज्जा तथा मुख सज्जा प्रचलित रही । अनेक प्रकार के रंग, तेल ग्रीज इत्यादि के अधिकाधिक प्रयोग से प्रभावोत्पन्न करने का प्रयास किया जाता रहा तो कभी मुखराग का पूर्ण बहिष्कार कर स्वाभाविक व्यक्तित्व तथा मुख की रेखाओं के प्रदर्शन को उत्तम समझा गया । इटली की प्रमुख अभिनेत्रियां पीतिया नोट तथा नोरादूस की दृष्टि में सफेदा पोते हुए चेहरे, लाल किए हुए गाल, बहुत महेहर बने हुए मुख और मोटी-मोटी रेखाओं युक्त पलकों वाले मुख में वह आकर्षण नहीं होता जो बिना छिपे हुए व्यक्तित्व में होता है । जर्मनी के प्रमुख आधुनिक रंगकर्मी ब्रेख्ट अपने पात्रों के स्वभाव एवं चरित्र को उभारने के लिए उनकी प्रकृति के अनुसार अर्द्ध-मुखौटे, बड़ी-बड़ी नकली दाढ़ी-मूँछें लगाते थे । किसी विशेष पात्र की आँखें तीखी और भेड़िये की तरह भूखी बनाने के लिए उनके चारो ओर लेप लगाते थे तथा नाक और गालों पर मोटी पर्त जमाते थे । नाटक के निम्न वर्ग के पात्रों की वेशभूषा में घिसी हुई पैन्ट, चिकने कोट, फटी हुई आस्तीन और चीकट स्कर्ट का प्रयोग होता था, जिससे कि बीते हुए समय की गंध एवं रंग का आभास हो सके ।

नाटक की रचना चाहे शास्त्रीय नियमावली के भीतर हुई हो अथवा लोक नाट्य शैली में लिखा नाटक हो, उच्च कोटि की साहित्यिक नाट्य-कृति हो अथवा केवल रंगमंचीय सफलता की दृष्टि से लिखा गया साधारण नाट्य, गीत नाट्य §ओपेरा§ हो अथवा दक्षिण भारत का शास्त्रीय नृत्य, सभी में वेशभूषा तथा मुख सज्जा का विशेष महत्व होता है ।

यथार्थवादी रंगमंच की वेषभूषा तथा प्रभाववादी रंगमंच की वेषभूषा एक दूसरे से नितांत भिन्न होती है । वेशभूषा तथा रूप सज्जा द्वारा नाट्य प्रस्तुतीकरण में

सामयिक तथा मानगत प्रतिबद्धता उत्पन्न की जाती है । किसी भी विशिष्ट पात्र की रूप सज्जा की परिकल्पना निश्चय ही उसकी भूमिका के आन्तरिक रूपांकन के सामान्तर होती है ।

आधुनिक रूप-सज्जा का नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से विशेष महत्व है । वैज्ञानिक सुविधा प्राप्त रंगमंच पर विविध प्रकार की प्रकाश व्यवस्था में रूप सज्जा दृश्य-विधान के साथ सामंजस्य रखकर कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक होती है । तीव्र प्रकाश-व्यवस्था तथा रंगीन प्रकाश का रूप सज्जा के साथ सामंजस्य होना अनिवार्य होता है । अभिनेता की रूपाकृति को अधिक तीखा और आकर्षक बनाकर उसके व्यक्तित्व को रंगमंच पर अधिकाधिक स्पष्टता के साथ उभारा जाता है । विभिन्न प्रकार की प्रकाश व्यवस्थाओं के अन्तर्गत मुखाकृति में जो परिवर्तन उपस्थित हो जाता है उसके अनुसार अर्थात् प्रकाश के गुण तथा सघनता के अनुपात में अभिनेता की रूप सज्जा को संतुलित किया जाना चाहिए । रंगीन आलोक अथवा वाद प्रकाश में छायालोक का मूल्य बदल जाता है तथा शोधक रूप सज्जा द्वारा उन्हें उनका सही रूप प्रदान कराना पड़ता है । दो रंगों के मेल से तीसरा रंग बन जाता है । अतः किस आलोक में किस रूप सज्जा के साथ किन रंगों तथा पाउडरों का उपयोग करना चाहिए इसकी पूर्व धारणा अपेक्षित होती है ।

रंगीन दृश्य सज्जा भी रूप सज्जा को प्रभावित करती है । इसी कारण रूप सज्जा में प्रयुक्त रंगों को प्रकाश व्यवस्था में प्रयुक्त रंगों के अनुरूप रखकर उचित प्रभाव उत्पन्न किया जाता है । पश्चिमी रंग कर्मियों ने इन सभी विषयों पर पर्याप्त विचार किया है ।

प्रकाश का सम्पूर्ण नियोजन एवं नियन्त्रण नीचे से आच्छादित, ऊपर से तथा किनारों से डाले जाने वाले क्षितिजीय प्रकाशों द्वारा किया जाता है । अतः ध्यान इस बात पर केन्द्रित किया जाता है कि इन प्रकाशों में अंक का कौन सा भाग अधिक प्रत्यक्ष होगा । ऊपर के प्रकाश के अधिक तीव्र होने पर मुख तथा शरीर का ऊपरी भाग

आभासित होगा और उससे सभी उभरी मुख रेखाओं के नीचे छायाएं पड़ेंगी, ललाट चमकेगा, आँखों के गड्ढे वृत्त के समान लगेंगे तथा कपोल की हड्डियां एवं नासिका का उभार अधिक स्पष्ट होगा। तेज पाद प्रकाश (फुट लाइट) में इसका उल्टा प्रभाव होगा, मुख के ऊपरी भाग पर मद्धिम छाया पड़ेगी। इसी भाँति एक ओर से फेंके जाने वाले प्रकाश में चेहरा अधिक स्पष्ट एवं उभरा हुआ प्रतीत होगा।

(3) रंगदीपन या प्रकाश संयोजन

अभिनय कला तथा उसके माध्यम गति को पूर्णत: व्यंजित करने के लिए पर्याप्त तथा समुचित प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश व्यवस्था के माध्यम से दृश्यात्मक रूप में चाक्षुष संरचना तथा देशकाल एवं घटनास्थल को व्यंजित करने में सहायता ली जाती है। प्रकाश व्यवस्था का प्रयोजन दृश्यबोध का अर्जन है। उसके द्वारा घटनास्थल, संरचना एवं मनोभाव (मूड) की सृष्टि के साथ ही नाटकीय शैली तत्व का व्यक्तीकरण किया जाता है।

प्राचीन नाटकों के अभिनय के सन्दर्भ में भरत मुनि ने नाट्य प्रयोग के लिए समय निर्धारित करते हुए बताया कि प्रात: तथा दिन के तीसरे पहर तथा रात्रि में प्रथम और अंतिम प्रहर में नाट्याभिनय किया जाना चाहिए। रंगप्रदीपन के सन्दर्भ में उनका मत है कि जलता हुआ दीपक लेकर सम्पूर्ण रंगमंच को प्रदीप्त किया जाना चाहिए।[x]

दिन के दो प्रहरों में दीपन की अधिक आवश्यकता न होगी, रात्रि के लिए दीपक जलाए जाने की व्यवस्था की गई होगी, परन्तु जहां तक शैलगुहाकार रंगमंडप का प्रश्न है, उसमें तो गवाक्षों के रहते हुए भी दिन में रंगदीप्ति की आवश्यकता होगी। डा० राम गोविन्द चन्द्र के अनुमान से मशालों का प्रयोग भी रंगप्रदीपन के लिए किया जाता होगा।[xx]

---

x नाट्यशास्त्र 3/93

xx डा० राम गोविन्द चन्द्र भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, पृ० 21

भरतयुगीन रंग मंडप प्राय: छोटे होते थे । अत: सात्विक भावों का प्रदर्शन प्रेक्षक को प्रभावित कर सकता था । ऐसी स्थिति में आलोक की विशेष समस्या न थी ।

यूनानी नाट्याभिनय दिन में होते थे । विशाल रंगशालाओं में रंगदीपन की सम्भावना भी न थी । रोम में सर्वप्रथम मशालों के प्रकाश में नाट्याभिनय हुआ किन्तु यह प्रयोग नवीनता के चमत्कार के लिए था । हालांकि हम यह मान सकते हैं कि यह मात्र नवीनता के चमत्कार के लिए किया जाता था, वह आधुनिक मंचीय प्रकाश की कृत्रिम व्यवस्था की ओर बढ़ा हुआ कदम कदापि न था । x

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सर्वप्रथम बार प्रकाश के लिए उल्काओं तथा मोमबत्तियों का प्रयोग इटली के "पलेडियो थियेटर" तथा इंग्लैंड के "ब्लैक फायर्स थियेटर" में किया गया । इन दोनों ही नाट्यशालाओं की छत ढकी हुई थी ।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में मोमबत्ती तथा तैलदीप के प्रचलन का प्रसार हुआ । 1763 में आरगैंड लैम्प का आविष्कार होने पर मिट्टी के तेल तथा कैम्फाइन §शुद्ध किया तारपीन का तेल§ का प्रयोग किया गया , परन्तु पूरे आडिटोरियम में समान प्रकाश व्यवस्था थी । अभिनेता तथा प्रेक्षक समान प्रकाश में होते थे । xx

19वीं शताब्दी के आरम्भ में गैस के प्रकाश की व्यवस्था हुई जिससे कि एक ही स्थान से पूरे रंगमंच के प्रकाश का नियंत्रण हो सकता था । लंदन के "लीसियम थियेटर" तथा अमेरिका के "बोस्टन थियेटर" में यह प्रयोग सर्वप्रथम आरम्भ हुए । तत्पश्चात् विद्युत प्रकाश के आविष्कार ने तो रंगदीपन के क्षेत्र में क्रान्ति ही उपस्थित कर दी ।

---

x शेल्डान चेनी, रंगमंच पृ0 120

xx Thus, when an eighteenth century paintu turned on depict a performance in action he showed the spectators seated in as full illumination as the actors on the stage. A Nicoll, Theatre and Dramatic theory, P. 29

अब नवीन प्रकार के अभिनेता-प्रेक्षक-सम्बन्ध विकसित हुए क्योंकि रंगमंच तथा प्रेक्षागृह की प्रकाश व्यवस्था में अब अन्तर था। तीव्र प्रकाशित मंच तथा मंद प्रकाशयुक्त अथवा पूर्ण अँधेरे प्रेक्षास्थल में बैठा प्रेक्षक केवल दर्शक था। अब आरम्भिक युग से शेक्सपियर के समय तक चली आने वाली दर्शक-अभिनेता के बीच की निकटता समाप्त हो गयी। x

भारतवर्ष के लोकनाट्य में दीपक अथवा मशाल के मंद प्रकाश में पात्रों की अंगसज्जा तथा वेश-विन्यास का रंग बहुत ही आकर्षक रूप में उभर कर आता है। गहरे रंग के परिधान तथा मुखरंजन के उपरान्त माथे पर लगाई गई हल्दी-केशर की बुंदकियाँ अथवा सलमें की अम्बी कटोरियों की रंग बिरंगी चमक अत्यधिक मनोहर प्रतीत होती है। कथकली नृत्य का प्रदर्शन चाहे कितने भी प्रदीप्त हाल में हो, मंच पर पीतल का विशाल दीवट प्रदीप्त करने की परम्परा का पालन किया जाता है।

पारसी थियेटर के अधिकतर प्रदर्शन पूर्ण प्रकाशित मंच §फुल लाइटेड स्टेज§ पर होते थे। चामत्कारिक दृश्यों में कभी-कभी पूर्ण अंधकार तथा अर्द्ध-प्रकाशित मंच की व्यवस्था होती थी।

---

x When, however, the new means of lighting first gas and then electricity came into common use a sharp cleavage resulted between the whole theatrical tradition, from the Greek era onwards, and a fresh actor-audience relationship was established with there new means, light could be controlled in a way impossible during earlier times and consequently it was easy to move into our familier present day convention, which presents a brightly lit stage while the spectation cast into a discreet semi-darkness, look at, insttad of sharing in performance.

A Nocil, 'Theatre and Dramatic theory', P. 29

आधुनिक भारतीय रंगमंच में अन्य देशों की भांति प्रकाश की वैज्ञानिक सुविधा का लाभ उठाने का भरपूर प्रयास किया जाता है । रंगशाला के निर्माण के समय ही प्रकाश-नियंत्रण-व्यवस्था का समुचित ध्यान रखा जाता है ।

रंगमंच पर समरस आलोक रखने की प्रारम्भिक व्यवस्था अब बहिष्कृत हो गयी है । अब तो आलोकित करने से अधिक छिपाने की कला अथवा मंद प्रकाश को रंगदीपन का प्रमुख अंग समझा जाता है । बिंदु प्रकाश [स्पॉट लाइट] से आलोकित दृश्यावली का एक भाग ही पूरा दृश्य बन जाता है । रंगमंच को यांत्रिक उपकरणों की अधिकाधिक सुविधायें प्राप्त हो गयी हैं । परन्तु अब समस्या है सभी उपकरणों के कलात्मक संयोग को प्रस्तुत करने की । उन्नत प्रकाश व्यवस्था के इस युग में कलाकार के सम्मुख चैलेंज है कि किस प्रकार विभिन्न प्रकार के प्रकाशों में दृश्य विधान तथा रूप-सज्जा को विभिन्न प्रकाश स्थितियों में प्रभावपूर्ण बनाये रखने का कौशल उत्यधिक महत्वपूर्ण है । इसका ध्यान नाटककार से लेकर रंगशिल्पी तक को रखना होता है । प्रत्येक नाटक के प्रकार तथा शैली के अनुसार प्रकाश के प्रत्येक प्रयोजन के विशिष्ट प्रयोग की योजना की जानी चाहिए । प्रकाश-यंत्रों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि वे व्यक्ति के प्रकाश संवेदन सम्बन्धी सीमा-रेखा को भली-भांति ग्रहण कर सके । नाटकीय प्रदर्शन में केवल प्रत्यक्ष करने की अपेक्षा आभासित करने की सम्भावना को अधिक महत्व दिया जाता है । प्रकाशपुंज को व्यर्थ फैलाया नहीं जाता, उसे अभिनयस्थल तक सीमित बनाया जाता है । प्रकाश का समुचित प्रयोग स्वत: एक विज्ञान है । यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ही फल है कि रंगमंच पर भयोत्पादक और त्रासद दृश्यों के समय मद्धिम प्रकाश से काम लेते हैं और काले तथा भूरे रंग के एक से पर्दे लगाते हैं । किसी दृश्य में कोई पैशाचिक कृत्य रहता है तो इसके पात्र के मुंह पर लाल प्रकाश फेंका जाता है जिससे भयानकता और बढ़ जाती है । ×

प्रकाश का प्रत्येक परिवर्तन, उसकी गति तथा उसकी स्थिरता, सभी का प्रयोग नाटकीय प्रभाव को दृष्टि में रखकर किया जाता है । अभिनेताओं के कार्यों तथा कथनों

× राजकुमार, "नाटक और रंगमंच" पृ0 106

के अनुरूप कथावस्तु के संवेगात्मक विकास में प्रकाश-व्यवस्था का समस्त विशेषताओं के माध्यम से नाटकीय दृश्य तत्वों का सहयोगी होना अपेक्षित है । ऐसा होने पर नाट्याभिनय की भावात्मक स्थितियों की व्यंजना तथा प्रभाव-क्षमता बढ़ती है ।

ब्रेख्ट बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि रोशनी सीधी तथा तीव्र हो ताकि पात्रों की भावाभिव्यक्ति के उतार-चढ़ाव को स्पष्टता के साथ देखा जा सके । "मंच प्रकाश" पर लिखी गयी उनकी कविता में कहा गया है कि "ऊंघती हुई रोशनी में मेरे दर्शक ऊंघने लगेंगे । मिस्त्री जी । चुंधियाने वाली तेज रोशनी दो ताकि दर्शक जागते रहें । अगर उन्हें सपने देखने हैं तो चमकती हुई रोशनी में देखें । रात के अंधेरे को हमारे जगमगाते हुए लैंप और चांद और भी गहरा कर सकते हैं । हम अपने अभिनय के द्वारा डूबते हुए दिन और आती हुई रात को व्यक्त करेंगे । — रोशनी तेज करो ताकि दर्शक हमारे नाटक देखें जो हमने उनके लिए तैयार किया है । x

रंगदीपकीय उपकरणों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है ।

1- संघात उपकरण §मैगेजीन इक्विपमेंट§- यथा पाद प्रकाश §फुट लाइट§ और शीर्ष प्रकाश §बैन्टस§

2- तीव्र प्रकाश §फ्लड लाइट§

3- बिन्दु प्रकाश §स्पाट लाइट§

4- लैंसयुक्त लालटेनें यथा आलोक-चित्रप्रक्षेपक §इफैक्ट्स प्रोजेक्टर§ किन्तु यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि बिंदु प्रकाश तथा संकीर्ण कोण तीव्र प्रकाश में बहुत थोड़ा अन्तर है । इसी प्रकार संघात उपकरण में एकत्रित कई लघु-तीव्र प्रकाशों §बेनी फ्लड लाइट्स§ का समावेश अधिक वैज्ञानिक होता है । इस दृष्टि से यह उपकरण तीन प्रकार के होते हैं:-

§क§ वह प्रकाश जिसका आलोक वितरण समरस है और जिसे परावर्तन §रिफ्लैक्टर§ के द्वारा कम अथवा अधिक नहीं किया जा सकता । यथा-पाद प्रकाश शीर्ष प्रकाश तथा तीव्र प्रकाश ।

---

x बलवन्त गार्गी "ब्रेख्ट का थियेटर", "रंगमंच" से उद्धृत, पृ0 26।

(ख) वह प्रकाश जिसका वितरण रिफ्लैक्टर या लैंस के द्वारा कम-अधिक किया जा सकता है । यथा फोकस वाली लालटेन अथवा कोमल आलोक वाला बिन्दु प्रकाश ।

(ग) लैंस के प्रयोग पर निर्भर शोधित प्रकाश यथा आलोकचित्र प्रक्षेपक और बिन्दु प्रकाश ।

(4) <u>गगनिका</u>

गगनिका अथवा पृष्ठपट के उपयोग के द्वारा आधुनिक दृश्य विधान में दृश्यानुकूल चित्रांकन द्वारा दूरवर्ती आकाश, बादल, तारे, वन या पर्वत शिखर इत्यादि दिखाये जाते हैं, किन्तु यह सुविधा आधुनिक प्रकाश-व्यवस्था की सहायता से ही प्राप्त हुई है । गगनिका को प्रकाशित करने के लिए विस्तृत कोण परावर्त्तक की आवश्यकता होती है जिससे आलोक में समरसता आती है और रंगों की मिलावट में सुविधा होती है । गगनिका को पाद-प्रकाश तथा शीर्ष प्रकाश दोनों के द्वारा रंगीन फिल्टरों के माध्यम से प्रकाशित किया जाता है । तीन आरम्भिक रंगों- लाल, गहरा नीला और हरा के लिए तीन सर्किटों को प्रयोग किया जाता है, इन्हें मिलाकर अथवा एक में से दूसरा रंग निकाल कर इन्द्रधनुषी सात रंग उत्पन्न किये जा सकते हैं । गगनिका के शीर्ष भाग में प्राय: गहरा नीला या हल्का नीला स्लेटी, नीलापन लिए हुए हरा, लाल या गुलाबी रंग दिये जाते हैं । गगनिका का शीर्ष भाग प्राय: एक हजार वाट के तीव्र प्रकाश तथा निचला भाग कम वाट के पाद प्रकाश से प्रकाशित किया जाता है ।

रंगदीप्ति के उपकरणों का प्रयोग विवरण इस प्रकार दिया जा सकते है-

(1) तीव्र प्रकाश: यह तीन प्रकार का होता है-(क) 60-150 वाट तक । (ख) 300 से 500 वाट तक (ग) 1000 वाट वाले तीव्र प्रकाश से बड़े मंचों को आलोकित किया जाता है । प्रथम दोनों छोटे प्रकार के प्रकाशों को "लघु तीव्र प्रकाश" कहते हैं । इनके साथ जो परावर्त्तक काम में लाए जाते हैं वे प्राय: 50° और 100° पर किरणों को फेंकते हैं

पृष्ठपट को प्रकाशित करने के लिए 100° पर किरणें फेंकने वाले विस्तृत कोण परावर्त्तक की आवश्यकता होती है ।

॥2॥ संघात उपकरण- पाद प्रकाश और शीर्ष प्रकाश जैसे समरस आलोक उसी के अन्तर्गत आते हैं । इन प्रकाशों के लिए मध्यम कोण तथा विस्तृत कोण वाले परावर्त्तकों की आवश्यकता होती है ।

॥3॥ समानान्तर किरणों वाली लालटेन ॥पैरलल वीम लैन्टर्न॥ इस लालटेन में दस इंच कास के पैराबोलिक परावर्त्तक और "स्पिलरिंग्स" से सामान्तर किरणें उत्पन्न होती हैं । इसका प्रयोग खिड़की से आने वाली सूर्य की किरणें दिखाने के लिए किया जाता है । इसमें 6 वाट 12 वोल्ट का बल्ब लगता है । ट्रांसफार्मर इसके अंदर बना होता है । इसे बड़े मंच पर बिन्दु प्रकाश की भाँति काम में लाया जा सकता है ।

॥4॥ संगम लालटेन ॥फोकस लैन्टर्न॥ यह प्राय: मंच पर बिन्दु प्रकाश के नाम से काम में आते हैं । इसमें 250, 500 100 वाट के बल्ब प्रयुक्त किये जाते हैं । स्पष्ट रूप से किसी बिन्दु या लक्ष्य पर प्रकाश को केन्द्रित रखने के लिए एक और लैंस लगाना पड़ता है ।

॥5॥ कोमल आलोक वाला बिन्दु प्रकाश ॥साफ्ट एज्ड स्पत लाइट॥- इसके लैंस और परावर्त्तक संगम लालटेन की अपेक्षा बड़े होते हैं और किरणें 10° और 45° के बीच में होती हैं ।

॥6॥ आलोक चित्र प्रेक्षक ॥इफैक्ट्स प्रोजेक्टर॥- इस प्रक्षेपक में स्लाइड का काम उसकी घूमने वाली तश्तरी करती है । इसके द्वारा चलते हुए बादल, तारों भरा आकाश, आग की लपटें अथवा कोई भी दृश्यावली दिखाई जा सकती है । यह एक प्रकार का स्लाइड

प्रोजेक्टर है जिसमें स्लाइड की जगह घूमने वाली तश्तरी भी लगी रहती है। पार्श्व से बादलों का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तीन इंच का फोकस पर्याप्त है।

{7} बिन्दु प्रकाश- इसके लिए स्टेलमर स्पाट या "मिरर स्पाट" काम में लाया जाता है। इसमें अन्य परावर्तकों के साथ एक गोलीय परावर्तक भी होता है। इसमें 1000 वाट का बल्ब लगता है। किरणें 3° और 19° तक का कोण बनाती हैं। बिन्दु के आकार को प्रकाश के द्वार पर लगे "शटरों" से नियंत्रित किया जाता है। रंगीन आलोक के लिए बिन्दु प्रकाश के साथ रंगीन फिल्टर काम में लाये जाते हैं। रंगमंच की आधुनिक दीपन व्यवस्था में दीप्ति नियामक {डिम्मर} का विशेष महत्व होता है। इससे आलोक को धीरे-धीरे घटाया बढ़ाया जा सकता है। इसका प्रयोग सूर्योदय अथवा सूर्यास्त दिखाने के लिए किया जा सकता है। लाल, नीले और हरे तीन प्राथमिक रंगों के लिए प्रयुक्त तीन दीप्ति नियामकों में इन्द्रधनुष के अन्य रंग उत्पन्न किये जा सकते हैं।

§5§ ध्वनि संयोजन:

रंगमंच पर वातावरण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ध्वनि संकेत प्रयोग में लाये जाते हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा विद्युत यंत्रों की व्यवस्था के साथ ही आज के नाट्य प्रदर्शनों में ध्वनि प्रभावों का विशेष महत्व बढ़ा है। व्यावसायिक रंगशालाओं में इसके लिए बड़े-बड़े उपकरणों की सहायता ली जाती है। ध्वनि-संकेत के प्राचीन साधन, कंठ, हाथ पैर तथा वाद्ययंत्र थे। कुछ प्रतिभा सम्पन्न कलाकार अपने कंठ से अनेक ध्वनियां प्रस्तुत कर प्रेक्षक को सत्याभास कराते थे। किन्तु आज वैज्ञानिक साधनों की सहायता से मूल ध्वनियों को यथातथ्य रूप में सुनाया जा सकता है। टेप रिकार्डर का प्रयोग इस सम्बन्ध में बड़ा ही उपयोगी है। वांछित प्रभाव को पहले से ही टेप पर अंकित कर लिया जाता है फिर नाट्य मंचन के समय उसका प्रयोग किया जाता है। रेलगाड़ी, वायुयान, मोटर इत्यादि का चलना, गोली चलना, मेघगर्जन, वर्षा, आंधी, तूफान, शिशुरोदन, पशु-पक्षियों की आवाजें इत्यादि को नेपथ्य से प्रस्तुत कर नाट्य प्रभाव में वृद्धि की जाती है। यह कार्य विशेष सतर्कता एवं सजगता के साथ करने की आवश्यकता होती है। ध्वनि प्रभाव §Sound effect § तथा मंचित किये जाने वाले दृश्य में इतना अधिक सामंजस्य होना चाहिए कि प्रभाव को अधिकाधिक पूर्ण बनाया जा सके।

जिस तरह अभिनेता की शारीरिक उपस्थिति के लिये दृश्यबोध की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसकी उच्चारित पंक्ति के लिये अथवा उसके मौन के लिये या क्रिया-कलाप के लिये ध्वनि प्रभाव का उपयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि ध्वनि-प्रभाव का उपयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि दृश्यबंध और ध्वनि प्रभाव एक ही काम करते हैं, सिर्फ उनके धरातल दो होते हैं। एक का लक्ष्य दर्शकों की आखें होती हैं तो दूसरे का लक्ष्य दर्शकों के कान।

इसलिये दृश्यबंध की सभी मान्यताओं का संशोधित और परिवर्धित रूप में ध्वनि प्रभाव के संयोजन में भी निर्वाह अनिवार्य हो जाता है। ध्वनि प्रभाव की अपनी

अभिव्यक्ति उसका अनिवार्य अंग है । अंधेरी रात के लिये ध्वनि प्रभाव का संयोजन कई प्रकार का हो सकता है । यदि हत्या और षडयंत्र का दृश्य सामने है तो उल्लू की चीख-पुकार, कुत्ते के रोने की आवाज आदि उस अभिव्यक्ति को परिपुष्ट करेंगे । यदि दो प्रेमी रात के अँधियारे में मिल रहे हैं तो पड़ोस से किसी बच्चे के रोने का शब्द या इस प्रकार के सुखद ध्वनि-प्रभाव की अभिव्यक्ति बिल्कुल दूसरे प्रकार की होगी । ध्वनि प्रभाव की अभिव्यक्ति की ओर हमारा ध्यान आसानी से जाता है और दृश्यबंध की बारीकियों को साधारण दर्शक चाहे न भी समझें, ध्वनि प्रभाव की हल्की सी भूल भी उसे असह्य हो जाती है ।

ध्वनि प्रभाव आकर्षक तो होना ही चाहिये । नाटक की पंक्तियों के साथ ध्वनि-प्रभाव ऐसा घुल-मिल जाना चाहिए कि उनकी एक सम्पूर्ण ईकाई बन जाये और दोनों उस प्रदर्शन के लिये दूध-पानी जैसे हो जायें । जिस तरह अच्छा दृश्यबंध अपनी हस्ती खोकर नाटक के व्यक्तित्व को उजागर करता है उसी प्रकार अच्छा ध्वनि-प्रभाव अपनी ओर कम से कम ध्यान आकर्षित करता है और नाटक की ईकाई में विलीन हो जाता है ।

ध्वनि-प्रभाव के साथ एक कठिनाई है जो दृश्यबंध के साथ नहीं । दृश्यबंध स्थायी होता है, कम से कम एक दृश्य या अंक के लिये, लेकिन ध्वनि-प्रभाव जीवंत अभिनेता के साथ बदलता रहता है । इसलिये एक ओर तो उसकी सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं और दूसरी ओर उसका निर्वाह भी उतना ही जटिल हो जाता है ।

स्थान और समय निर्देश का काम ध्वनि-प्रभाव द्वारा बहुत अच्छी तरह होता है । यदि रेलवे प्लेटफार्म का दृश्य है तो नेपथ्य से आती-जाती गाड़ियों का ध्वनि-प्रभाव स्थान-निर्देश का काम पूरा कर देगा । ध्वनि प्रभाव का संयोजन इस प्रकार उस सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का अंग बन जाता है जिसका समन्वित रूप दर्शकों तक पहुँचता है और करता है ।

ध्वनि प्रभाव के संयोजन से पहले इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि नाटक के प्रदर्शन की शैली और उसकी दिशा क्या है । यदि शैली यथार्थवादी है तो काम आसान हो जाता है । स्थूल प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण से काम चल जायेगा । हालांकि उस समय भी प्रदर्शन की दिशा के अनुकूल उनका चुनाव करना जरूरी हो जाता है । फिर पूरे नाटक में जिन-जिन स्थलों पर ध्वनि-प्रभाव अपेक्षित हैं उनकी सूची बना ली जाती है और ध्वनि प्रभावों की तालिका तैयार की जाती है ।

लेकिन यदि प्रदर्शन अयथार्थवादी हुआ तो ध्वनि प्रभाव का संयोजन जटिल बन जाता है । उस समय ध्वनि-प्रभाव द्वारा स्थूल प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरण नहीं, ध्वनियों के सहारे नाटक के घटनाक्रम के प्रदर्शन की दिशा के अनुकूल विवेचना और पृष्ठभूमि का निर्माण अभीष्ठ होता है ताकि रंगमंच के दृश्य को वह नाटकीय सघनता और गहराई व्याप्त हो वो दर्शकों को विशेष प्रकार से प्रभावित करे । उदाहरणार्थ अभिज्ञान शाकुन्तलम् का ही प्रदर्शन सामने रखें जिस समय दुष्यंत रथ पर हिरन का पीछा करता हुआ प्रवेश करता है उस समय घोड़े के टापों की ध्वनि प्रभाव घातक होगी क्योंकि अयथार्थवादी प्रदर्शन में रंगमंच पर न तो घोड़े होंगे और न रथ ।

इसलिये अयथार्थवादी प्रदर्शन के लिये ध्वनि प्रभाव का संयोजन संगीत निर्देशक की सृजनात्मक प्रतिभा की अपेक्षा रखता है । ये जरूरी नहीं कि सभी ध्वनि प्रभाव संगीतात्मक ही हों । जरूरी में होता है कि सिर्फ ध्वनियों के सहारे नाटक के क्रिया-कलाप की पृष्ठभूमि और भावदशा का निर्माण करता है ।

ऐसे ध्वनि प्रभावों के संयोजन में सम्प्रेषणीयता स्वत: महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती है, क्योंकि नाटक की सफलता इस सम्प्रेषणीयता पर ही निर्भर करती है । ऐसी स्थिति में एक सरल उपाय बहुत हद तक सहायक साबित होता है जब ऐसे ध्वनि-प्रभाव तैयार हो जायें तो कुछ मित्रों को बिठाकर उन्हें ये प्रभाव सुनवाना चाहिये और

फिर इसकी सम्प्रेषणीयता की जांच कर लेनी चाहिये । यदि सिर्फ ध्वनि-प्रभाव को सुनकर विशेष भावदशा का बोध होता है तो नाटक में निश्चय ही वह सफल साबित होगा ।

सामान्यत: ध्वनि-प्रभावों की ऐसी परीक्षा हर हालत में लाभदायक ही होती है । यथार्थवादी ध्वनि-प्रभावों के लिये इस तरह का परीक्षण सहायक होता है और रंगमंच की व्यावहारिकता का पहले से बोध करा देता है ।

ध्वनि-प्रभावों के संयोजन में एक बात का विशेष महत्व रहता है कि यह हमारे जीवन का सामान्य अनुभव है कि ध्वनियों की तीव्रता और उनकी निहित लय हमेशा बदलती रहती है । यदि कोई चिड़िया बोलती है तो शायद 5 सेकेण्ड के अंतराल पर दो बार बोलती है । फिर एक-दो सेकेण्ड के अंतराल पर दो-तीन बार बोलकर उड़ जाती है ।

उसकी जो आवाज हमारे कान में पड़ती है उसमें स्वभावतया चिड़िया के स्वर की तीव्रता अंतराल आदि में निरन्तर परिवर्तन लक्षित होगा । इसका निर्वाह नित्याभास के लिये तो आवश्यक होता ही है, नाटक के निहित वेग और गति का सहायक भी होता है ।

इस सम्बन्ध में यह संकेत काफी होगा कि जिस प्रकार अभिनेता अपने स्वर के उतार-चढ़ाव, संभाष्य की सम आदि का प्रयोग करता है वह सब ध्वनि-प्रभाव के संयोजक की परिधि में आ जाता है । सिर्फ ये कहा जा सकता है कि अभिनेता और ध्वनि-प्रभाव के संयोजक के माध्यम भिन्न-भिन्न होते हैं ।

इस दृष्टि से देखा जाये तो ध्वनि-प्रभाव की कलात्मक अभिव्यक्ति के विस्तार और उसकी गहराई का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है । इसका प्रयोग उसी तरह किया जाना चाहिए ताकि अधिकतम प्रभाव हो, प्रभाव की दिशा प्रदर्शन की दिशा को परिपुष्ट करे और पूरे नाटक की अभिव्यक्ति सशक्त हो ।

(6) संगीत योजना
==========

नाट्य शास्त्र में लगभग छः सात अध्यायों (28•34) में नाट्य प्रयोग की सिद्धि के लिए गीत वाद्य के महत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है । पूर्वरंग का आरम्भ गीत नृत्य के साथ होता है । नाट्य प्रयोग के मध्य में भी गीत का प्रयोग होता है । गीत वाद्य नाट्य प्रयोग में अलातचक्र की तरह मिले रहते हैं । x

गीत-वाद्य विधान के सम्बन्ध में भरत मुनि ने पूर्ववर्ती संगीताचार्यों-स्वाति, नारद, तुंबरू आदि का उल्लेख किया है । गीत का प्रयोग भावरस के प्रकाशन के लिए होता है । अतिशय गीत-प्रयोग का विरोध भी आदि आचार्य ने किया, क्योंकि उस स्थिति में नाट्य प्रयोग राग जनक न होकर खेदजनक हो जाता है ।

गायक-वादकों की आसन व्यवस्था तीनों प्रकार के नाट्य मंडपों में रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के द्वारों के मध्य होती थी । xx भरत मुनि की दृष्टि से गीत-वाद्य नाट्य की शैय्या है, इनका समुचित प्रयोग होने पर नाट्य प्रयोग विपत्तिग्रस्त नहीं होता ।

संस्कृत तथा प्राकृत नाटकों में गीतों का प्रयोग होता है । कालिदास के तीनों नाटकों में गीतों का विधान किया गया है । अभिज्ञान शाकुंतलम् के आरम्भ में ग्रीष्म ॠतु का गीत नटी गाती है । मध्ययुगीन मैथिली नाटक "पारिजात हरण" में उमापति ने अनेक माधुर्यपूर्ण गीतों की योजना की है । xxx

---

x एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम,
अलात चक्रप्रतिमं कर्त्तव्यं नाट्योक्तृभि: ना0शा0 28/7

xx नाट्य शास्त्र पृ0 84

xxx उमापति पारिजातहरण पृ0 । गीत सं0- 1,4,5,7,8,11,12,13 सं0 जार्ज ग्रियर्सन

लोक नाट्य परम्परा का यह क्षेत्र विशेष रूप से बना होता है । रंगशाला में गायकों और वाधकारों की मंडली के स्थान की विशेष महत्ता है, क्योंकि पर्दों और औपचारिक दृश्य-परिवर्तन के अभाव में गीत और वाद्य वादन ही कथा सूत्र को श्रृंखलाबद्ध करते हैं तथा प्रसंगों के बीच कालावधि में पूरक का काम करते हैं । x रास, स्वांग, नौटंकी में समाजी, गुरु अथवा उस्ताद अपनी मंडल के साथ तख्त के बने मंच पर ही बैठते हैं ।

पारसी नाटक में नृत्य गीत की योजना भी अपने आप बहुत ही महत्वपूर्ण है । मंगलाचरण शास्त्रीय संगीत के साथ गाया जाता था । नायक-नायिका के गीतों में लोकधुनों तथा शास्त्रीय रागों का मिश्रण होता था, वाध वादक पाश्चात्य ऑपेरा साजिदों की भांति पाद प्रकाश के आगे गहरी सी जगह में बैठते थे ।

आधुनिक हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भी गीतों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है । भारतेन्दु के नाटकों में भक्ति श्रृंगार तथा देशभक्ति से पूर्ण सुन्दर गीतों का समावेश है ।

आज के हिन्दी रंगमंच पर हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी लोकधुनों का प्रयोग करते हुए अपने नाटकों में चार-चार, पांच-पांच गीतों का विधान करते हैं । आगरा बाजार, रूस्तम सोहराब, मुद्राराक्ष, राजमाता, उत्तर रामचरित, चार भाई इत्यादि के प्रदर्शन में छत्तीसगढ़ी के कलाकारों द्वारा गायन का सुन्दर प्रयोग किया गया ।

---

x जगदीश माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 66

पश्चिमी रंगमंच पर तो आरम्भ से ही वृंदगान {कोरस} का प्रचलन था । ऑपेरा तो पूर्णत: गीतपरक नाट्य था । शेक्सपियर ने गीतों के माध्यम से नाट्य व्यंग {ड्रामेटिक आयरनी} का सुन्दर उपयोग किया है । शेक्सपियर तथा मारलो के नाटक अपनी गीतिपरक प्रवृत्ति के लिए काफी प्रसिद्ध है ।

आधुनिक नाटक में नेपथ्य संगीत का विशेष महत्व है । टेप में रिकार्ड किया गया संगीत प्रभाव आज बहुत ही महत्वपूर्ण बन गया है । वातावरण का निर्माण करने, अवसरानुकूल वाद्य संगीत संवादों की पृष्ठभूमि में तथा करुण शांत, वीर श्रृंगार आदि रसों की निष्पति में नेपथ्य संगीत तथा पृष्ठभूमि संगीत अत्यधिक उपयोगी होता है ।

नवीन दृश्य विधान में जहां दृश्य परिवर्तन तथा अंक परिवर्तन के समय परदा गिराने-उठाने का प्रचलन समाप्त कर दिया गया है, एक दृश्य से दूसरे दृश्य के बीच के अंतराल में कुछ पलों के लिए संगीत प्रभाव का प्रयोग कर मनोहारी वातावरण की सृष्टि की जाती है ।

॥7॥ दृश्य संरचना

दृश्यबंध एक हद तक व्यापक शब्द है । पर्दा उठने पर जो भी दिखायी पड़ता है उनमें अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को छोड़ दें तो बाकी सभी दृश्यबंध की परिधि में आ जाते हैं । स्पष्ट है कि रंगमंच पर कमरे की दीवारों के लिये खड़े किये गये फलकों, गगनिका, पेड़-पौधों के अलावा टेबुल-कुर्सी, अलमारी आदि भी हमें दिखाई पड़ती है । इस तरह ये सभी दृश्यबंध की परिधि में आ जाते हैं । सुविधा के लिये इन्हें सामान्यत: दो भागों में बांट दिया जाता है और टेबुल-कुर्सी अलमारी आदि उपकरण के नाम से पुकारे जाते हैं ।

आधुनिक प्रदर्शनों में जहाँ दृश्यबंध का इतना महत्व है, वहीं संस्कृत नाटकों अथवा लोकनाट्यों में उनका महत्व नहीं के बराबर है, क्योंकि जो काम दृश्यबंध से लिया जाता है वही काम संस्कृत नाटकों में लेखक की पंक्तियों से पूरा हो जाता है । लोकनाट्यों में अभिनेता के अभिनय से "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में सूत्रधार और नटी के संवाद के बाद सूत्रधार कहता है-

तवास्मि गीत रागेण हारिणाप्रसमं हन्त: ।
एष राजे व दुष्यंत: सारंगेजाति रहंसा ।।

इतना कहकर सूत्रधार चला जाता है पर वह स्थापित कर जाता है कि यह जंगल है और भागते हुए हिरण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यंत आ रहा है । फिर हिरण का पीछा करता हुआ रथारूढ़ मुद्रा में धनुष-वाण लिये सारथी समेत राजा प्रवेश करता है और इस तरह दृश्यबंध का काम पूरा हो जाता है अथवा पौधों को सींचते समय जिस केसर के पौधे की चर्चा शकुंतला करती है वह रंगमंच पर वास्तविक रूप में होता नहीं, लेकिन उसके संभाषण की पंक्तियां और उसका अभिनय उसे दर्शकों के मस्तिष्क में अच्छी तरह स्थापित कर देता है ।

इस प्रकार लोकनाट्यों में संभाषण की पंक्तियां और अभिनय द्वारा दृश्यबंध का काम लिया जाता है । "माच" के प्रदर्शन में अभिनेता कहता है कि मैं अमुक शहर

जा रहा हूँ । वहीं मंच पर वह तीन-चार चक्कर लगाता है और कहता है कि अमुक शहर पहुँच गया । इस तरह ऊपर देखकर वह कहता है कि अमुक तो दुमंजिले पर रहता है । फिर अभिनय कर वह नीचे झांकता है और कहता है, दुमंजिले की खिड़की से देखना बड़ा अच्छा लगता है ।

स्पष्ट है कि दृश्यबंध के इस तरह नहीं उपयोग करने की कुंजी नाट्य छवि में ही छिपी है । इन मान्यताओं के प्रति जागरूकता और उनकी साझेदारी में ही अच्छे प्रदर्शन का रहस्य छिपा है वरना खीर में चीनी के बदले नमक डालने वाली बात चरितार्थ होती है जिसका प्रभाव हास्यास्पद होता है ।

साधारण तौर पर हम सभी जानते हैं कि रंगमंच पर दृश्यबंध का क्या उपयोग होता है । कमरे का दृश्य है तो कमरा दिखाया जाता है । निर्देशानुसार टेबुल, कुर्सी लगाकर उसे सजाया जाता है । फुलवारी के लिये पेड़-पौधे जुटाये जाते हैं यानि घटना को एक विशेष स्थान से जोड़ने का काम तो हम देखते ही हैं । यह भी छिपी बात नहीं कि चित्रात्मकता की दृष्टि से उसे सुन्दर बनाने की कोशिश की जाती है । दीवार में कहीं खिड़की दी गयी है तो उसके बाहर नीला आसमान भी दिखाया जाता है ।

यदि उपयोगिता की दृष्टि से देखें तो दृश्यबंध का उद्देश्य है कि विशिष्ट आकारों और संकेतों द्वारा लेखक की कल्पना को साकार करने में अभिनेता की मदद करना । इस तरह दृश्यबंध उस वातावरण की सृष्टि करता है जिसमें अभिनय का वह विशिष्ट अंश सबसे अच्छा और प्रभावशाली बन सके तथा सृजनात्मक प्रक्रिया की अनुभूति को दर्शकों तक पहुँचाने में सहायक हो तथा इस तरह दृश्यबंध भावनाओं का ऐसा वातावरण तैयार करता है तो लेखक की रचना की आत्मा के अनुकूल होता है और अभिनेता जिन भावनाओं को साकार करना चाहता है उनके अनुकूल रंग और रेखाओं का संसार खड़ा कर देता है ।

किसी भी दृश्य को प्रस्तुत करते समय एक कोरे चित्रकार की कल्पना और रंगमंच पर उपस्थित दृश्यबंध की कल्पना में मौलिक भेद है । चित्रकार की कल्पना अपने-आपमें एक सम्पूर्ण ईकाई है । उसे ज्यों का त्यों सामने रखकर आनंद उठाया जा सकता है । उसे किसी अन्य चीज की अपेक्षा नहीं रह जाती । इसके विपरीत रंगमंच पर दृश्यबंध का रस परिपाक तभी होता है जब वहां अभिनेता-अभिनेत्री आ जाते हैं । इस तरह दृश्यबंध एक सम्पूर्ण कलाकृति का अंक है जिसकी सार्थकता और सुन्दरतम प्रभाव के लिये अन्य अंगों की भी अपेक्षा रहती है ।

दृश्यबंध अपना काम मुख्यत: तीन प्रकार से करता है । दृश्यबंध द्वारा स्थान का निर्देश होता है, नाटक की घटनावली की परिपुष्टि होती है और नाटक का दृश्यात्मक और श्रवणात्मक आवरण बनता है ।

॥8॥ प्रकाश संयोजन

एक जमाना था कि प्रकाश व्यवस्था को इतना महत्व नहीं दिया जाता था। चूंकि नाटक रात में ही होते थे इसलिये दर्शकों के लिये किसी न किसी तरह रोशनी की व्यवस्था करनी ही पड़ती थी। अभिनेता दर्शकों को दिखा दिये जाते थे। पूरे रंगमंच पर बराबर रोशनी फैला दी जाती थी।

शायद तब प्रकाश-व्यवस्था के इतने साधन नहीं थे कि उनपर तीनों तरह का नियंत्रण रखा जा सके। किसी रंग की कितनी रोशनी किस दिशा में अभिनय-क्षेत्र पर पड़ती है इसका छोटा-मोटा हिसाब तो रखा जा सकता था, पर इसमें वैज्ञानिक निश्चितता नहीं लायी जा सकती थी। रंगमंच पर बिजली के व्यवहार के कारण प्रकाश-व्यवस्था की नयी सम्भावनाएं सामने आयीं। रंगमंच के प्रकाश-व्यवस्था की विशेष बत्तियों और उनके नियंत्रण का निर्माण भी बड़ी तेजी से चल रहा है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि रंगमंच पर प्रकाश-व्यवस्था का सिर्फ इतना ही काम नहीं कि नाट्य-प्रदर्शन जैसी समन्वित अभिव्यक्ति के विभिन्न अंगों के योगदान को दिखाये बल्कि प्रकाश व्यवस्था ही वह चीज है जो विभिन्न अंगों के योगदान को समन्वित करती है। प्रकाश-व्यवस्था द्वारा अभिनेता, दृश्यबंध उपकरण वेशभूषा इत्यादि सिर्फ दिखते ही नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकार से दिखते हैं जिससे नाट्य-प्रदर्शन के विभिन्न अंगों की विशेषतायें समन्वित हो जाती है और पूरा नाट्य-प्रदर्शन एक कलात्मक ईकाई बन जाता है।

इस तरह आज प्रकाश-व्यवस्था बड़ा ही जटिल काम करती है। प्रकाश के रंग, उसकी मात्रा और दिशा के नियंत्रण से हम दर्शकों को अभिनय दिखाते हैं, अभिनय के साथ अभिनेता के इर्द-गिर्द रंगों और आकारों का वातावरण बनाते हैं। प्राकृतिक सत्य का आभास दिलाते हैं, दृश्यबंध अभिनेता वेशभूषा इत्यादि की एक मनोहारी डिजाइन प्रस्तुत करते हैं और अनुभूति की दृष्टि से अभिनेताओं के प्रयत्न के पूरक रूप में

दर्शकों को एक विशेष रस-निष्पति की ओर ले जाते हैं। यानि साधारण तौर पर हम कह सकते हैं कि प्रकाश-व्यवस्था के ये उपयोग-

1- साफ-साफ दिखाई पड़ना
2- प्रकृति का बोध कराना
3- आकार और रंगों का आभास देना
4- मनोहारी डिजाइन प्रस्तुत करना
5- विभिन्न अवयवों को समन्वित करना

प्रकाश व्यवस्था का पहला और प्रमुख काम यह है कि दर्शकों को भी साफ-साफ दिखाई पड़े और उनकी आंखों पर लगातार घंटों देखने के बाद भी अस्वाभाविक रूप से जोर न पड़े। साफ-साफ दिखाई पड़ने के लिये प्रकाश की मात्रा, दिखाई पड़ने वाली चीज का आकार-प्रकार तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा, यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि वह चीज प्रकाश को किस मात्रा में सोखती है और किस मात्रा में वह प्रतिबिंम्बित करती है, उसके पास-पड़ोस की चीजों पर कितना प्रकाश पड़ रहा है तथा दर्शकों से उनकी दूरी क्या है ?

यह काम सबसे अच्छा सपाट तेज रोशनी से हो सकता है। सभी चीजों पर काफी तेज रोशनी पड़े तो सभी चीजें दिखेंगी, लेकिन रंगमंच पर सभी चीजें एक सी दिखाई नहीं जातीं क्योंकि उससे नाट्य प्रदर्शन का काम नहीं चल सकता। प्रासाद के दृश्य में प्रहरी और दूत भी होते हैं, लेकिन अनुपात में दर्शकों का बहुत ही कम ध्यान उन पर खींचा जाता है। दर्शकों का अधिक ध्यान राजा इत्यादि मुख्य पात्रों पर केन्द्रित किया जाता है। फिर भी प्रासाद की वास्तविकता को विश्वसनीय बनाने के लिये प्रहरी इत्यादि का भी प्रयोग किया जाता है। उसी तरह रंगमंच पर कुछ चीजें अधिक रोशनी में रखी जाती हैं, कुछ धीमी रोशनी में और कुछ बिल्कुल अंधकार में। इस तरह प्रकाश-व्यवस्था द्वारा दर्शकों का ध्यान बिखेरने के बदले विशेष दिशा में केन्द्रित किया जाता है।

अभिनेता और निर्देशक प्रकाश की विभिन्न मात्राओं का कुशल उपयोग कर उस प्रदर्शन को एक विशेष गहराई प्रदान करते हैं ।

विशेष प्रकार के प्रदर्शनों और सेट के लिये यह जरूरी हो जाता है कि पूरा दृश्यबंध एक साथ दर्शकों को न दिखे । अनेक दृश्यों वाले नाटक का यदि एक ही दृश्य बंध हुआ तो दृश्यों के साथ अभिनय-क्षेत्र दृश्यबंध के एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट जाता है । इस तरह विभिन्न दृश्यों का बोध कराया जाता है । इस तरह के दृश्यबंध के लिये यह जरूरी है कि जितना हिस्सा अभिनय क्षेत्र होता है दृश्य के दौरान उतना ही हिस्सा दर्शकों को एक साथ दिखे ।

विशेष प्रकार के रंगमंच के लिये जिसमें पर्दे इत्यादि नहीं होते और दर्शक रंगमंच के दो, तीन या चारों ओर बैठते हैं, यह काम और भी महत्वपूर्ण हो जाता है । दृश्यों और अंकों की स्थापना तो प्रकाश-व्यवस्था द्वारा होती ही है, दृश्यों के निरूपण में स्थान-परिवर्तन का भी संकेत अभिनय क्षेत्र के परिवर्तन से हो जाता है । इस प्रकार प्रकाश-व्यवस्था का पहला काम सिर्फ यह नहीं कि दर्शकों को सभी कुछ सुविधापूर्वक साफ-साफ दिखे, बल्कि दर्शकों के देखने लायक चीजें नाट्य प्रदर्शन के महत्व की दृष्टि से प्रकाश के विशेष अनुपात में साफ-साफ दिखें ।

यदि सपाट रोशनी से रंगमंच को भर दिया जाये तो विभिन्न चीजों का आकार खो जाएगा । टेबुल, कुर्सी, पेंड़ का तना, अभिनेता, सभी चपटे और रंगे से दिखेंगे । यह प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि आकार के निर्देश के लिये प्रकाश के साथ-साथ छाया की भी उतनी ही आवश्यकता होती है । सपाट रोशनी से एक कमजोर और पतले टेबुल और एक भारी और मजबूत टेबुल का भेद खो जायेगा । इस सम्बन्ध में पसिद्ध कलाकार लियोनार्डो डाविंची ने अपनी नोटबुक में लिखा था-

"छाया का अर्थ है प्रकाश को रोकना । मैं तो समझता हूँ कि दृश्यत्व में पूर्वा पर का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये छाया का बहुत बड़ा महत्व है, क्योंकि छाया

के बिना किसी भी अपारदर्शी चीज के घेरे के बाहर क्या है, इसका पता तो नहीं ही चलेगा, उसी चीज के आकार का भी पता नहीं चल सकेगा । मुझे तो छाया के सम्बन्ध में यह कहना है कि हर अपारदर्शी चीज की सतह पर छाया और प्रकाश का आवरण बना रहता है । अधिक प्रकाश हर चीज को एक प्रकार की कठोरता प्रदान करता है और प्रकाश की एकदम कमी हो तो चीजें दिखाई ही नहीं पड़तीं । इन दोनों के बीच का रास्ता ही सर्वोत्तम है । "

रंगमंच पर इसी बात को लागू किया जाये तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ना चाहिये कि कमरे की दीवार कहां से मुड़ी है, कौन सी दीवार उस खिड़की से कितनी दूर है जिससे रोशनी आ रही है और फिर कमरे का कितना हिस्सा दिखता है, वह सिर्फ दीवारों से घिरा है, इतना ही काफी नहीं । यह भी दिखना चाहिये कि कमरे का आकार क्या है । इसी तरह अभिनेता का शरीर या उसकी वेशभूषा के दिख जाने भर से काम नहीं चलता । यह भी दिखना जरूरी है कि उस प्रकार की वेशभूषा में अभिनेता के शरीर का आकार क्या है । रंगमंच पर उपस्थित सभी चीजों का आकार रेखाओं का एक जाल सा बुनता है जिससे सौंदर्य बोध में दर्शकों को सहायता मिलती है और इसके अभाव में दर्शक ठगा सा रह जाता है ।

इनके अलावा इन रेखाओं से घिरे रंगों के धब्बों का अपना महत्व है । अच्छी प्रकाश-व्यवस्था होने पर रंगों के ये धब्बे बेजान नहीं मालूम होते । इनमें एक प्रकार की गहराई और उभार सा आ जाता है जिससे पूरे चित्र में एक तीसरे स्तर का समावेश हो जाता है । इस तरह रेखाओं और रंगों का ऐसा रूप सामने आता है जिसमें एक अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति होती है ।

रंगमंच के कृत्रिम वातावरण में प्राकृतिक प्रकाश का आभास देना भी आवश्यक काम है । दरवाजे खिड़की से आती रोशनी भी कृत्रिम प्रकाश-व्यवस्था से इस तरह दिखाई जाती है कि प्राकृतिक प्रकाश का बोध होता है । इसी तरह कमरे में लगी हुई बत्तियों

की रोशनी, पेड़ की पत्तियों से छनकर आती हुई रोशनी इत्यादि का निरूपण किया जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की जरूरत है कि प्रकाश-व्यवस्था का यह अंश साधारणत: अभिनय-क्षेत्र के लिये उपयुक्त नहीं होता ।

इसी तरह स्थान, देश और काल का भी निरूपण प्रकाश-व्यवस्था द्वारा हो जाता है । चाँदनी संकेत करती है कि रात है । कमरे की आती बत्ती संकेत करती है कि अभी रात है । दृश्यबंध के बाकी अंगों की सहायता से देश, काल और स्थान-निरूपण का काम प्रकाश-व्यवस्था द्वारा पूरा हो जाता है ।

रंगमंच की उतनी छोटी सी परिधि में बड़े से बड़े मैदान, कमरे इत्यादि प्रकाश-व्यवस्था के कारण ही वास्तविक दिखते हैं । खिड़की के बार दूर दिखने वाले छोटे-छोटे पेड़ की दूरी का आभास देते हैं । लेकिन उनमें गहराई तभी आती है जब उसी के अनुकूल प्रकाश-व्यवस्था हो ।

प्रकाश-व्यवस्था द्वारा न सिर्फ दृश्यबंध के विभिन्न अवयवों द्वारा प्रस्तुत रेखाओं और रंगों की डिजाइन स्पष्ट हो जाती है बल्कि प्रकाश-व्यवस्था स्वयं रंगीन प्रकाश की एक डिजाइन तैयार करती है । विभिन्न दिशाओं से आती हुई रंगीन प्रकाश की नियंत्रित किरणें रंगमंच की चहारदीवारी के बीच ही जगह में प्रकाश का एक रंगीन ताना-बाना बुन देती है । प्रकाश-व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत इस तरह की डिजाइन के बारे में एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये । चित्र की तरह प्रकाश-व्यवस्था की यह डिजाइन स्थायी या अचल नहीं होती । पूरे नाटक के दौरान विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ये डिजाइन भी बदलती रहती है और जिस तरह रंगमंच पर स्थान-परिवर्तन का उपयोग अभिनेता और निर्देशक करते हैं उसी तरह प्रकाश-व्यवस्था वाले भी प्रकाश की किरणों के रंग, दिशा और मात्रा के परिवर्तन का उपयोग करते हैं । जिस तरह रंगमंच पर अभिनेताओं के परस्पर स्थान-परिवर्तन का एक उद्देश्य होता है और वे

नाटक के विकास में सहायक होते हैं उसी तरह बदलती हुई प्रकाश-व्यवस्था भी अपना काम करती है । स्थूल रूप से कहा जाये तो जब रंगमंच पर अभिनेता अपना काम कर रहा होता है तो उसके साथ प्रकाश की रंगीन किरणें भी अपना काम कर रही होती हैं । जिस तरह अभिनेता के पीछे कुशल निर्देशक का हाथ स्पष्ट दिखता है उसी प्रकार अच्छी प्रकाश-व्यवस्था भी सुलझे हुए कलाकार का संकेत करती है ।

प्रकाश-व्यवस्था का यह पहलू सबसे कठिन और कलात्मक है । यों अपनी विशेषता के कारण कुछ हद तक यह काम खराब प्रकाश-व्यवस्था भी कर लेती है । प्रकाश-व्यवस्था के कारण दृश्यबंध, अभिनेता आदि एक साथ दिखाई पड़ते हैं, लेकिन प्रकाश-व्यवस्था सिर्फ वह धागा नहीं जो इन मनकों को पिरोकर एक माला बनाती है । प्रकाश-व्यवस्था धागा के अलावा स्वयं एक मनके का भी काम करती है । कभी-कभी तो छायाओं द्वारा ही सारा संकेत इतना स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक पात्र को रंगमंच पर लाया ही नहीं जाता ।

प्रकाश-व्यवस्था द्वारा समन्वय स्थापित करने का दूसरा तरीका है संतुलन । विशेष प्रकार के दृश्यबंध को बिना किसी प्रकाश-व्यवस्था के दिन की रोशनी में देखिये, उसमें एक प्रकार का असंतुलन या बहंगापन दिखाई देगा । इस तरह का दृश्यबंध विशेष प्रकाश में देखें तो असंतुलन का कहीं नामोनिशान नहीं मिलेगा । दृश्यबंध का संतुलन कुछ हद तक तो अभिनेता स्थापित करते हैं और कुछ हद तक प्रकाश-व्यवस्था । साधारण से साधारण दृश्यबंध में भी इधर-उधर आने-जाने वाले अभिनेताओं के आकार §व्यक्तिगत या सम्मिलित§ और उनकी वेशभूषा के रंगों का दृश्यबंध और सज्जा-उपकरण के रंगों और आकार के साथ प्रकाश-व्यवस्था ही समन्वय कराती है । इस तरह धागे और मनके दोनों का काम प्रकाश-व्यवस्था एक साथ ही करती है ।

पांचालजी एक अन्य यवनिका की चर्चा भी करते हैं जिसका नाट्यशास्त्र में तो उल्लेख नहीं है, किन्तु संस्कृत नाटकों- मालती माधव, उत्तर रामचरित, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मुद्राराक्षस इत्यादि में इसके प्रयुक्त होने के साक्ष्य हैं। मालती माधव में इसे चित्र यवनिका का नाम भवभूति ने दिया है। यह चित्र यवनिका कोई ऐसा पर्दा रहा होगा जिसे नाट्य स्थिति की आवश्यकता के अनुरूप मंच पर लाया जा सकता हो। x

डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित के मत से कुल मिलाकर चार-पांच यवनिकाओं का प्रयोग होता था। xx

पाश्चात्य नाट्य गृह- यूरोप में प्राचीन ग्रीक नाट्यशाला जन-जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग थी। भारतीय नाट्यमण्डप के विपरीत यह बहुत बड़े जनसमूह के लिए बनाई जा सकती थी। इन नाट्यशालाओं में 15000 दर्शक एक बार में बैठ सकते थे। यूनान के धार्मिक एवं राष्ट्रीय उत्सवों में भाग लेने वाले प्रेक्षकों के लिए नाट्य-प्रेक्षण तथा प्रदर्शन धार्मिक भावना का ही अंग था। यूनानी नाट्य कला के स्वरूप की भांति ही वहां की रंगकला भी अत्यन्त सरल किन्तु भव्य होती थी। यह खुली रंगशाला {ओपन एअर थियेटर} थी। आरम्भ में नृत्य-वृत्त की गोलाई ही रंगमंच का काम देती थी जिसका आयोजन किसी पहाड़ी की तलहटी अथवा उपवन में होता था। दर्शक पहाड़ी के ढलान पर खड़े होते थे। नृत्य-वृत्त के बीच में एक वेदी और पेड़ियां {बेमा} बनी रहती थीं जो मंदिर से सम्बद्ध होती थीं। यह नृत्यस्थली आरकेस्ट्रा कहलाती थी। फिर वहां एक भवन बनाया गया। एक्रोपोलिस के ढलाव की भांति एक्रोपोलिस के नीचे बनी इस दिअनूसी रंगशाला {Dyonisian Theatre, 6th Cen. B.C. } में आरकेस्ट्रा की गोलाई में उठती हुई लकड़ी की पाटियों की सीढ़ियां उसे तीन ओर से घेरे हुए थीं। इनके दोनों ओर स्थान खाली था। कुछ समय पश्चात् नृत्यस्थली के उस पार एक सीधी आगे की ओर बढ़ी हुई भित्ति {स्क्रीन} बनाई गई जिसके पीछे अभिनेता

---

x नट्रंग 25 अंक, जनवरी जून 1975 पृ0 52

xx डा0 सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, भरत और भारतीय नाट्यकला पृ0 103

अपने वस्त्र रखते और बदलते थे। धीरे-धीरे सम्पूर्ण अभिनय व्यापार इस स्क्रीन के समक्ष होने लगा और नृत्यस्थली का मूल रूप ही समाप्त हो गया। दृश्यावली इस रंगशाला में कोई नहीं थी, साज-सज्जा भी बहुत कम थी। शेल्डान चेनी लिखते हैं- यूनानी नाट्य रचना के स्वर्णयुग में रंगमंच की व्यवस्था सरल और सीधी थी। गोलाकार ऊपर की ओर उठती हुई सीढ़ियाँ, समूहगान एवं अभिनय के लिए निर्मित खुली चिपटी जगह और पार्श्व में नीची ढकी हुई "स्क्रीन" यही उस समय का रंगमंच था। प्रेक्षागृह और "स्क्रीन" के बीच में आवागमन के लिए चौड़ा स्थान था और सम्पूर्ण मानचित्र में एक ऐसा खुलापन था जो कि बाद की रंगशाला के निर्माण में नहीं दिखायी देता। धीरे-धीरे नृत्य के लिए सुरक्षित स्थान में संकोच होने लगा। मंच अधिक विशाला हो गया, वह अधिक निकट आ गया अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा और अन्त में ढके हुए स्थान पर ऊपरी हिस्सा रंगमंच का चबूतरा बन गया। अभिनय इसी स्थान पर होने लगा और उसके पीछे "स्क्रीन" की दूसरी मंजिल बनी- इसी के पीछे मंच की वह दीवार थी जो यूनानी-रोमन तथा रोमन रंगशालाओं की एक विशेषता बन गई।" × अत: पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व में भव्य रंगमरमर की रंगशालायें बनीं। ×× दर्शकों के बैठने का स्थान पत्थर का बनाया गया। अभिनयस्थल भी अधगोला ¤सेमी सर्किल¤ या उससे कुछ अधिक बनाया गया, जिसके पीछे लकड़ी अथवा पत्थर की दोमंजिला स्क्रीन होती थी, किन्तु अभी तक कोई ऊँचा उठा हुआ मंच न था। ××× रंगमंच की पवित्रता तथा धर्म-भावना की स्मृति स्वरूप पास में ही डोमोनिसस देवता का बनाया गया। सम्पूर्ण नाट्य व्यापार धर्मोत्सव का ही अंग था। प्रेक्षास्थल "थियेट्रान" कहलाता था।

रोमी नाट्यशाला भी यूनानी नाट्यशाला की भाँति अर्द्ध-चक्राकार बनाई गई उनमें बढ़ते हुए वृत्ताकार में आसन की पंक्तियों के पीछे पंक्तियाँ चली गई हैं।

× शेल्डान चेनी, "रंगमंच" अनुवादक श्री कृष्णदास, पृ0 77

×× शेल्डान चेनी, "रंगमंच" अनुवादक श्री कृष्णदास, पृ0 6

××× शेल्डान चेनी, "रंगमंच" अनुवादक श्री कृष्णदास, पृ0 46

निर्माण विधि यूनानी ढंग की ही थी । आरम्भिक रोमी प्रहसनों का प्रदर्शन अस्थायी प्रयोग के लिए बने लकड़ी के रंगमंच और प्रेक्षागृहों में ही होता था । प्लाटस तथा टेरेन्स के नाटक ऐसे ही रंगमंच पर अभिनीत हुए थे । दूसरी शताब्दी ई0पू0 के अंतिम दिनों में पहली बार रोम में प्रस्तर रंगभवन निर्मित किया गया । साम्राज्यवादी युग की इस रंगशाला का स्वरूप काफी भव्य था । इस समय रंगभवन-निर्माण राजकीय नैतिकता के नियमों के विरुद्ध था, किन्तु पाम्पेयी ने एक चातुर्यपूर्ण बहाना ढूंढ़ लिया तथा रंगभवन निर्मित कराया । इस रंगशाला को मंदिर का रूप दे दिया गया । प्रेक्षास्थल के ऊपर बेनिस देवी का एक छोटा सा मंदिर इस प्रकार बनाया गया कि आसनों की पंक्तियां केवल मंदिर तक पहुँचने की सीढ़ियां प्रतीत हों जिनमें 15000 दर्शक के बैठने का स्थान है । "सर्कस मैक्सिमस" जो पहले छोटा सा लकड़ी का चबूतरा था अब पत्थर का तीन सौ फुट लम्बा रंगमंच बन गया ।

इसके तीनों ओर की दीवारें प्रेक्षागृह के पंक्तिबद्ध स्तम्भों की ऊँचाई की थीं । इनका तड़क-भड़क अलंकरण राजभवनों एवं मंदिरों जैसा था । मंजिल पर मंजिल पंक्तिबद्ध स्तम्भ, सामने के सहन और गवाक्ष, रंगीन संगमरमर की मूर्तियां, कामदार किनारे और इस सबसे ऊपर अलंकृत मंच की छत-सब कुछ मिलाकर एक राजसी भव्यता का रूप ग्रहण किए हुए थे । प्रेक्षागृह खुला था पर रंगशाला अधिक ठोस विराट और सुगठित हो गयी थी । रोमन जीवन की अतिरंजना तथा उद्वेगशीलता के अनुरूप ही वहां की नाट्यशालाएं हैं जिनमें नाट्यकला के सूक्ष्म स्तर की प्रतिष्ठा की कल्पना नहीं की जा सकती । रोमी नाट्यकला धर्म से बंधी न थी ।

मध्ययुगीन यूरोप में पुन: नाट्यकला चर्च के माध्यम से विकसित हुई । चर्च में रंगमंच और प्रेक्षागृह की किसी योजना एवं व्यवस्था की आवश्यकता ही न थी । फिर जब नाट्य चर्च के बाजारों, चौराहों तथा गाड़ियों में अपना रंगमंच स्थापित करता है उस समय दर्शकों के निश्चित स्थान की कल्पना भी नहीं की जा सकती । x

---

x चेनी शेल्डान रंगमंच पृ0 218

रेनेसां-रंगभवनों का आधार प्राचीन रोमी रंगशालाएं ही थीं । मध्ययुगीन धार्मिक रंगमंच को पुनर्जागरण काल में बहिष्कृत कर उसका आधुनिकीकरण किया गया । जो भी हो, इटालवी के पुनरूत्थान में आधुनिक रंगमंच के जन्म के चिन्ह मिलते हैं । x

इस समय रंगशाला की नवीन निर्माण विधि का विकास हुआ जिसमें चित्रित सेटिंग्स का प्रयोग होने लगा । ओलम्पियन अकादमी का विजेन्सा में स्थित पैलेडियन थियेटर आज भी तद्युगीन रंग-भवनों की शाही सजधज एवं भव्यता के प्रमाण स्वरूप खड़ा है । इसी युग में असाधारण रंगमंचीय सक्रियता के प्रमाण मिलते हैं । मार्ग में चौराहों पर प्रस्तुत होने वाले [Come dia Dell Arte] अपनी मौलिकता, ओजस्विता तथा विकासशीलता के लिए प्रशंसनीय थे । अपनी मौलिकता ओजस्विता तथा विकासशीलता के लिए प्रशंसनीय थे । ये अलिखित कथोपकथन युक्त होते हैं । दरबारी रंगभवनों में नाट्यकला ने एक नवीन विशदता एवं विराटता का आयाम ग्रहण किया । भव्य राजसी ढंग से सजी-धजी नृत्यशाला बन गई । रंगशाला में मान्तेडाना के चित्र लटकाए गये, रंगशाला की छत बनी, दीवारें वास्तुकला तथा मूर्तियों से सजी थी, सोलहवीं शताब्दी में ही मंच के मेहराब का निर्माण होने लगा, जो अगली तीन शताब्दियों तक मंच शिल्प की विशेषता बनी रही । परमा में स्थित फार्नीज रंगशाला को "प्रथम आधुनिक रंगशाला" कहा जाता है, क्योंकि इसमें पहली बार ऐसा रंगपीठ निर्मित किया गया जिसके ऊपर अभिनय हो । इस पर दीवारों तथा दृश्यावलियों का निर्माण हुआ । परदों पर चित्रित परिवर्तनीय दृश्यपीठ का प्रयोग होने लगा और रंगशाला के भीतर दृश्य-विधान का चित्रण करने वाले कलाकार का महत्व बढ़ गया । तब से आज तक परदे वाला रंगमंच और अग्रमंचद्वार दोनों ही रंगशाला के आवश्यक अंग बन गये हैं । xx

---

x चेनी शेल्डान रंगमंच पृ0 218

xx पं0 सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच पृ0 498

इस यवनिका सज्जित रंगशाला में नृत्य के लिए फर्श तथा शाही रंगशालाओं की तरह वादकों के बैठने के लिए गोलाकार स्थान भी हैं । इस समय प्रेक्षास्थल का आकार गोलार्द्ध के स्थान पर अंग्रेजी के "यू" [U] की शक्ल का बनाया गया है । यूरोपीय रंगशाला निर्मिति के इस समृद्धि काल की कला आलंकारिक अधिक थी, संरचनात्मक कम, साज-सज्जा की ओर विशेष ध्यान था, विभिन्न अंगों को विकसित करने की ओर कम । x

ऐलिजाबेथ कालीन इंग्लैंड इटली के पुनर्जागरण से पूरी तरह परिचत हो चुका था । धार्मिक भावना सम्पन्न नाटकों के अतिरिक्त राजदरबार में नाट्य रचयिताओं तथा अभिनेताओं को भी थोड़ा बहुत समर्थन मिलता था, यद्यपि इटेलियन राज दरबार की तुलना में यह नहीं के बराबर था । इस सदी के मध्य में किड्, ग्रीन मारलों इत्यादि के नाटक जिन रंगशालाओं में अभिनीत हुए वे प्राचीन सरायों के प्रागंण का विकसित रूप थीं । सर्वप्रथम 1576 में अर्ल साव लीस्टर अभिनेता मंडली के अध्यक्ष जेम्स बरबेज की रंगशाला लंदन के बाहरी भाग में बनी उसके बाद "कर्टेन" नामक रंगशाला । इन अनाच्छादित रंगशालाओं का रंगमंच इतना आगे की ओर बढ़ा होता था कि वह दर्शकों के बीच तक पहुँच जाता था । केवल थोड़ी सी जगह पर्दा होता था । दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की कोई व्यवस्था न थी । इटली के चित्रमय रंगमंच की तुलना में यह बिल्कुल सादा रंगमंच था । दृश्य परिवर्तन के लिए कवित के वर्णनात्मक पद्य ही प्रेक्षक की कल्पना के आधार होते थे । xx ड्राप कर्टेन तथा परिवर्तनशील दृश्यावली का नितांत अभाव था । ये रंगशालाएं गोल या अठकोणी होती थीं । रंगमंच तीन भागों में विभक्त होता था- अग्रभाग किसी भी प्रकार के खुले मैदान मार्ग इत्यादि के दृश्य के लिए प्रयुक्त होता था । पृष्ठ भाग को थोड़ी बहुत स्टेज प्रापर्टी के साथ भवन राज दरबार या अन्य किसी अंत:कक्ष के लिए प्रयोग करते थे । तीसरा भाग ऊपरी मंच [अपर स्टेज] जो कि मंच के भीतरी भाग के पीछे की गैलरी होती थी, ऊँचे स्थान के दृश्य के रूप में प्रयुक्त होती थी । जैसे किसी राजभवन की दीवार महल की खिड़की इत्यादि जैसे ओथेली में ब्रेवन्शियों के मकान की खिड़की ।

---

x

xx Walter Raleigh Shakespeare P. 116-119

सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी की नाट्यशाला प्राचीन नाट्यशालाओं के ढंग की ही बनी थी । 1642 में शुद्धतावादियों §प्यूरिटन्स§ ने रंगशाला के अभिशाप की समस्या को अधिकाधिक जटिल बना दिया तथा 20 वर्ष के लिए रंगभवनों में तालेबंदी हो गयी । रंगमंचीय नाटकों के पार्लियामेन्ट द्वारा इस दमन के कारण 1660 में रेस्टोरेशन काल तक लंदन के रंगमंचों पर किसी प्रकार की सक्रियता न थी । अब तो रंगकला विकसित हुई वह ऐलिजाबेथी सार्वजनिक रंगशाला का नहीं छद्मवेशी नाट्य परम्परा का फल थी । x

अब नाट्य साहित्य तथा रंगकर्म दोनों को ही फ्रान्स ने प्रभावित किया । "किंग्स सर्वेण्ट्स" तथा "ड्यूक आफ पावर्स कम्पनी" के मंच पर इटली की यवनिका चौखटा लगाने की प्रथा चल पड़ी । ड्रूरी लेन थियेटर में सोपानीकृत मंच, विंग्स मंचद्वार अनेक प्रकोष्ठ तथा छोटा सा पिट था जिसमें बेंचें पड़ी रहती थीं यहां पुनर्जागरण कालीन प्राचीन स्तम्भ तथा ऐसी ढली कार्निस का प्रयोग होता था जिनके नीचे झालरें लटकती थीं ।

रोमांटिक युग में मंच का आकार घोड़े की नाल §हार्स शू§ के समान हो गया उसमें प्रेक्षागृह में सीटों तथा बाक्सों की पंक्तियां रहती थीं । इसी समय जर्मनी में प्रेक्षागृह के ढालू समतल पर सीटें बनाई गईं । फिर अन्य यूरोपीय देशों में भी ऐसे नाट्यघर बने । प्रेक्षण की दृष्टि से यह व्यवस्था पर्याप्त सुविधापूर्ण थी । यथार्थवादी नाट्ययुग की रंगशाला में रंग विधान को जीवन के यथार्थ रूप के निकट लाने के लिए अधिकाधिक वैज्ञानिक प्रयोग हुए, किन्तु प्रेक्षास्थलों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ ।

आधुनिक युग में गुहाकार रंगभवनों का प्रचलन हुआ है । अब अधिकाधिक ध्यान इस बात की ओर रखा जाता है कि अभिनीत दृश्य प्रेक्षक को अधिकाधिक स्पष्ट एवं श्राव्य हो सके । वैज्ञानिक प्रगति इस क्षेत्र में अधिकाधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है ।

---

x शेल्डान चेनी, रंगमंच पृ0 365

पाश्चात्य देशों में आधुनिक रंगशालाएं बदलते हुए परिवेश की अपेक्षाओं तथा आवश्यकताओं के अनुकूल नाट्य-प्रयोग का केन्द्र रही हैं। जन जीवन से इनका घनिष्ठ, आत्मीय एवं कलात्मक सम्पर्क रहा है। इन नाट्य भवनों के निर्माण में नाना शैलियों तथा उद्देश्यों की इतनी सर्जनात्मक विविधता प्रस्तुत की जा रही है कि एक ही नाट्यशाला में अनेक प्रकार से नाटकों का मंचन बड़ी सुविधा के साथ किया जा सकता है। दर्शकों को सामने बैठाकर दाएं बाएं अथवा चारों ओर बैठाकर अनेक प्रकार से प्रदर्शन कर नवीन अभिनेता प्रेक्षक सम्बन्धों की खोज की जाती है। इन सबको फलस्वरूप सम्प्रेषणीयता के बहुआयामी रूप निखर पाते हैं।

आधुनिक भारतीय नाट्यशाला

भारतीय लोक नाटकों का रंगमंच खुला रंगमंच है। डा० रघुवंश का मत है कि नाट्यशास्त्र में उल्लिखित लोकधर्मी परम्परा के आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि भारत में जनसाधारण के लिए खुली नाट्यशालाएं रही होगीं जिनकी परम्परा संस्कृत नाट्यशालाओं के ह्रास के बाद भी चलती रही और हमारे लोक में प्रचलित सांगीत, रास, रामलीला तथा जात्रा आदि नाट्य रूपों का इनसे सम्बन्ध माना जा सकता है तथा उनके विकास क्रम का स्वरूप अनेक स्थितियों में यूरोपीय नाट्य घरों के विकास की भांति है। x

श्री जगदीशचन्द्र माथुर के मत से भी संस्कृत नाटकों के हासकाल में एक ऐसी नृत्य संगीत संवाद मिश्रित शैली विकसित हुई, जिसका उल्लेख लक्षणकारों ने नहीं किया है। इन्हीं संगीतकों से वर्तमान लोकप्रिय शैलियां रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवत मेल आदि विकसित हुई तथा जयदेव के गीत गोविन्द की शैली ने संगीतकों को देशव्यापी प्रदर्शन विधा के रूप में स्थापित किया। भक्ति काल में इन भाषा नाटकों के रचयिताओं ने रंगशाला और नाट्य को जनसाधारण के बीच भागवत धर्म के संदेश का माध्यम बनाया। xx मुस्लिम आक्रमणों के इस संकटग्रस्त युग में लोक नाट्य एवं धार्मिक

x डा० रघुवंश नाट्यकला पृ० 230
xx श्री जगदीशचन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य, प्रस्तावना

लीला नाटकों के रूप में हिन्दी नाट्य परम्परा की धारा प्रवाहित रही ।

इन नाटकों का प्रदर्शन मंदिरों में बने रंगमंडपों अथवा निकट के भू भाग में होता है । केरल में त्रिन्दूर के मंदिरों की कथाम्बलम् नाट्यशालाएं तथा बृन्दावन के रास मण्डप ऐसे ही रंग मंडप हैं । ग्रामीण मेलों तथा उत्सवों के अवसर पर शामियानों और तम्बुओं में अस्थाई रंगशाला बना ली जाती है । सांग, सांगीत रास आदि की मंडलियां जो प्रायः घुमन्तू होती हैं, घरों के बरामदों में भी नाटक खेलती हैं । इन परम्पराशील नाट्यों के रंग मंदिरों में असम की "भाओना घर" सर्वाधिक विधिवत बनाई गई रंगशाला है । इसका स्वरूप कुछ कुछ मध्ययुगीन यूरोप के चर्च नाटकों की रंगस्थली के समान होता है । ×

रामलीला की रंगस्थली विस्तृत मैदान के रूप की होती है जिसमें चित्रकूट, लंका, पंचवटी इत्यादि स्थान अलग-अलग निश्चित मान लिए जाते हैं । चारों ओर के खुले स्थान में दर्शक फर्श पर बैठे अथवा खड़े रहते हैं । इन लोक-नाट्यों की रंगशाला में सीनरी अथवा मंच बना लिया जाता है, तख्त रखकर भी मंच का काम ले लिया जाता है ।

पारसी मण्डलियां चलचित्र के लिए निर्मित भवनों में अपने नाटक खेल लेती थीं । अपनी सुविधा तथा आवश्यकता के अनुरूप कभी-कभी खुले अस्थायी रंग मंडप तम्बू कनात तान कर भी बना लिए जाते थे । रंगमंच अथवा प्रेक्षास्थल के लिए किसी विशेष निश्चित माप जोख के स्थान की आवश्यकता न थी । प्रत्येक कम्पनी अपने परदों, विंग्स तथा झालरों के माप के अनुकूल मंच तथा अधिकाधिक दर्शकों को बैठा सकने योग्य दीर्घाएं बना लेती थी ।

उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक नाटक प्रारम्भ होने पर ही भारत में नियमित रूप से नाट्यशालाएं बनीं । इसका स्वरूप बहुत कुछ आपेरा घरों जैसा

× श्री जगदीशचन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य, प्रस्तावना, पृ0 63

था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में सिनेमा के आरम्भ हो जाने पर इनमें से अधिकांश तो सिनेमाघरों में परिवर्तित कर दी गईं । कलकत्ता, बम्बई जैसे नगरों तथा दक्षिणी भारत में कुछ नियमित नाट्यशालाएं रहीं । अव्यवसायी मण्डलियां स्कूल कालिजों के हॉल में ही अपने प्रदर्शन करती रहीं, किन्तु ये भवन नाट्य प्रस्तुति की दृष्टि से निर्मित न होने के कारण कई प्रकार की असुविधा भी रहती थी ।

इसी सन्दर्भ में झालावाड़ §राजस्थान§ की भवानी नाट्यशाला भी उल्लेखनीय है जिसके विवरण से सर्वप्रथम कुंवर चन्द प्रकाश सिंह ने हिन्दी रंग साहित्य का परिचय कराया । x झालावाड़ में महाराजा भवानी सिंहजी इसके संस्थापक थे । यह नाट्य संस्था देश के सर्वोत्तम रंगमंचों में से एक थी जिसमें हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी के नाटक अभिनीत हुए । उनके बाद महाराज राजेन्द्र सिंह की देखरेख में भी इसमें काफी अभिनय हुए । राजकीय संरक्षण के कारण रस-नाट्य संस्था को पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त हुईं । फिर भी यह नाट्य संस्था हिन्दी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान अथवा विकास में कोई महत्वपूर्ण योग न दे सकी ।

स्वाधीनता व टैगोर की जन्म शताब्दी के अवसर पर भारत सरकार ने सम्पूर्ण देश के विभिन्न राज्यों की राजधानियों में रवीन्द्र रंगशालाएं बनवाई जिनमें से अधिकांश का निर्माण अच्छा था । यद्यपि रंगकर्मी तथा रंग समीक्षक श्री सर्वदानन्द का मत है कि इन रंग भवनों की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये सब अलग-अलग नाप जोख के हैं । एक प्रदेश का कोई नाट्यदल दूसरे प्रदेश के रवीन्द्र मंच पर कोई अभिनय प्रस्तुत करना चाहे तो उसे बहुत कठिनाई होगी । xx

भारत में मुक्ताकाशी रंगमंच की व्यवस्था भी हुई । दिल्ली का तालकटोरा गार्डन थियेटर ऐसा ही है । इस खुली रंगशाला में एक नीचा मंच बनया गया है जिसमें

---

x कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह: हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा 366

xx श्री सर्वदानन्द, रंगमंच पृ0 38

पीछे भीतर की ओर झुकी हुई भित्ति §साइक्लोरामा§ बनी है । बम्बई में थियेटर यूनिट के लिए इब्राहिम अल्कानी ने अपने फ्लैट के आठ मंजिले भवन की छत पर मुक्ताकाशी रंगमंच बनाया जिसमें काठ की सीढ़ियों पर दो सौ के लगभग दर्शक के बैठने की व्यवस्था थी । प्रकाश-व्यवस्था के लिए ऊँचा मचान तथा अभिनय के लिए पर्याप्त क्षेत्र था । मेरठ में ऐसा प्रयास सुरेश कौशिक ने किया । कलकत्ता में भी मुक्ताकाशी रंगस्थली बनाने का प्रयास किया गया ।

नेमिचन्द्र जैन के मत से हमारे देश जैसी आर्थिक व्यवस्था तथा रंगस्थिति वाले देश के लिए सामान्य सुविधाएं युक्त मुक्ताकाशी रंगमंच काफी उपयोगी होंगे तथा ऐसे नाटकघरों के लिए खण्डहरों, पहाड़ियों अथवा अन्य प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि बड़ी प्रभावी हो सकती है । x उदाहरणार्थ दिल्ली में पुराने किले में अल्काजी के निर्देशन में अंधा युग का अभिनय किया गया ।

आज नाट्यशाला के प्रति कल्पनाशील सर्जनशील दृष्टि विकसित करने तथा रंगमंच के स्वरूप के बारे में इस इमेज को बदलने की आवश्यकता है कि रंगमंच एक मात्र चित्र-चौखटा रंगमंच § Box Theatre § के ढंग का ही हो सकता है । लोक नाटकों की खुली प्रवाहपूर्ण परम्पराएं इसमें सहायक हो सकती हैं जहां दर्शक वर्ग और अभिनेताओं के बीच गहरी निकटता है । इससे दो लाभ होंगे- नवीन नाट्य दृष्टि एवं रंगदृष्टि का विकास तथा देश में भव्य नाट्य गृहों की समस्या का समाधान । क्योंकि बड़े शहरों में जहां सप्रू हाउस अथवा मावलंकर हाल जैसे शानदार भवन हैं, उनसे हटा कर हमें दृष्टि छोटे शहरों तथा कस्बों के रंगमंच पर पहुँचानी है ताकि वहां भी रंगकला का विकास तथा प्रसार हो सके । रंगशाला ही वह स्थल है जो नाट्य-प्रयोग को दृश्य रूप देता है । इस महत्वपूर्ण अंग को अधिकाधिक जन समाज के लिए सुलभ बनाने के प्रयास की ओर ही हमारी दृष्टि होनी चाहिए ।

---

x श्री नेमिचन्द्र जैन, रंग दर्शन पृ0 64

[1] प्रेक्षागृह तथा प्रस्तुतीकरण

रंगमंच के भौतिक पक्ष "प्रेक्षागृह" ने नाट्य-लेखन से लेकर नाट्य-प्रदर्शन तक को प्रभावित किया है । उदाहरण के लिये एलीजाबेथन मंच के उन्मुक्त प्लेटफार्म और धरातली मंच ने शेक्सपीयर तथा उसके काल के रंगमंच को अनन्त स्वतंत्रता का भाव दिया । अनेक दृश्य, देश, काल में उसका नाटक पूर्ण विश्वास के साथ जीता-बढ़ता रहा । उसमें अनेक कथायें, घटनायें तथा महाकाव्योचित नाट्य व्यापार होते रहे ।

रंगभवन की भीतरी पहन-रंगभूमि [स्टेज] और रंगशाला [ऑडीटोरियम] केवल रूप और आकार मात्र नहीं, बल्कि एक जीवन्त कला है, अपने आप में इसीलिये इसे "थियेटर आर्टीटेक्ट" रंग-स्थापत्य कला की मर्यादा मिली है ।

रंगशाला के आकार-प्रकार से रंगभूमि का अनुपात, अपने प्रभाव से अत्यन्त उल्लेखनीय है । "थियेटर आफ डायोनिसस" में दर्शक के बैठने का क्षेत्र-विस्तार उसके मंच-प्रकार को किस तरह प्रभावित करता है तथा वे दोनों तत्व किस तरह नाट्य-लेखन और प्रदर्शन को प्रभावित करते हैं- यह एक मनोरंजक सत्य है ।

रंग-स्थापत्य कला को उसके सम्पूर्ण अर्थ में जानने के लिये यहां चार प्रविनिधि [पूर्व आधुनिक] रंगभवनों की चर्चा की जायेगी ।

ग्रीक-प्रेक्षागृह- ग्रीक रंगमंच का क्रमश: उदय कर्मधाड़ जादू-रहस्य से लेकर पिर ड्रामन तक हुआ । इसी के अनुरूप ग्रीक रंगभवन पहले नृत्य-परिधि, फिर पांचवीं शताब्दी बी•सी• के बाद आर्केस्ट्रा-परिधि मूलक रंगभवन के रूप में निर्मित हुआ । ग्रीक नाटककार अपने युग के रंगभवन की भौतिक स्थिति में न केवल प्रभावित हुआ बल्कि उसने भी उसे विकसित किया जैसे ऑर्केस्ट्रा परिधि में नाचते-गाते हुये "कोरस" के बीच "अस्काइलेस" ने एक दूसरे अभिनेता की संख्या बढ़ायी और "सोफोक्लीज" ने तीसरे पात्र

की प्रतिष्ठा की । कोरस की संख्या में क्रमशः कमी और अभिनेता की संख्या में वृद्धि हुई । इसका प्रभाव यह हुआ कि ग्रीक रंगस्थल में विशाल दर्शक-समूह के बैठने के लिये जो अस्थायी व्यवस्था थी, उसके स्थान पर पत्थर की स्थायी सीढ़ियां बनीं । इस तरह प्रेक्षालय और रंगभूमि §एक्टिंग एरिया§ का स्थायी महत्व सम्बन्ध स्थापित हुआ ।

इस विशाल रंगभवन का प्रभाव नाट्य-लेखन के साल-साल स्वभावतः अभिनय कला और प्रदर्शन-विधि पर पड़ा । अभिनय की मूल प्रवृत्ति में प्रक्षेपन कला पर अत्यधिक बल दिया गया । प्रदर्शन-शिल्प में महद् और उदात्त मुद्राओं, नृत्यवत, गतियों और समूहन को विशेष महत्व मिला । सारा प्रदर्शन इस तरह विशाल दर्शक-समूह को रंग में बांधे रहने तथा उन्हें प्रभावित करने के लिये, विशेष रूप से रीतिबद्ध हुआ ।

मध्ययुगीन प्रेक्षागृह- पश्चिम में मध्ययुगीन नाटक पहले चर्च में प्रस्तुत होते थे । बाईबिल की कथाओं का तथ्यपूर्ण प्रदर्शन इसकी परम विशेषता थी, लेकिन ज्यों-ज्यों नाटक की प्रकृति धर्म निरपेक्ष होती गयी, ज्यों-ज्यों गिरजा और कैथड्रिक से ड्रामा बाहर गया, बाहर आकर यह मध्ययुगीन ड्रामा यद्यपि बड़ी-बड़ी व्यावसायिक कम्पनियों के हाल में आया, किन्तु चर्च-ड्रामा के तीन प्रमुख तत्वों को रस ने अपने स्वरूप में समन्वित और ग्रहण कर रखा ।

रंगशाला शिल्प- भरत ने नाट्य शास्त्र के द्वितीय अध्याय में तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का विधान बताया है ।

"विकृष्ट" §लम्बा आयताकार§

चतुरस्त्र §वर्गाकार§

त्र्यस्त्र §तिकोना§

ये तीनों प्रकार के प्रेक्षागृह तीन-तीन परिमाण के होते थे- ज्येष्ठ, मध्यम और अवसर §कनिष्ठ§ । इस प्रकार कुल नौ प्रकार और परिमाण के प्रेक्षागृह के विधान हुए जो हाथ की माप अनुसार-

§1§	विकृष्ट ज्येष्ठ प्रेक्षागृह	108 × 54 हाथ
	" मध्यम प्रेक्षागृह	64 × 32 हाथ
	" कनिष्ठ प्रेक्षागृह	32 × 16 हाथ
§2§	चतुरस्त्र ज्येष्ठ प्रेक्षागृह	109 × 108 हाथ
	" मध्यम प्रेक्षागृह	64 × 64 हाथ
	" कनिष्ठ प्रेक्षागृह	32 × 32 हाथ
§3§	त्रयस्त्र ज्येष्ठ प्रेक्षागृह	108 हाथ लम्बा
	" मध्यम	64 हाथ लम्बा
	" कनिष्ठ	32 हाथ लम्बा

चौबीस अंगुल का एक हाथ अर्थात् एक हाथ आज के डेढ़ फुट के बराबर ।

इस नाप के अनुसार चौंसठ हाथ §96 फुट§ लम्बा और बत्तीस हाथ §48 फुट§ चौड़ा विकृष्ठ मध्यम प्रेक्षागृह ही मृत्य लोगों के लिये बनाना चाहिये । इससे बड़े प्रेक्षागृह में नाट्य का "रस" नहीं मिलता ।

प्रथम प्रेक्षागृह देवताओं के लिये है । दूसरा विकृष्ट मध्यम मनुष्य के लिये उत्तम और आदर्श माना गया है । सब कुछ ध्यान में रखकर सब प्रकार के प्रेक्षागृहों में

मध्यम ही अच्छा है, क्योंकि इसमें पाठ्य और अभिनय अधिक पूर्ण रूप में सुनायी और दिखाई पड़ता है ।

वस्तुत: इसी दूसरे प्रकार के नाट्य गृह का ही वर्णन, नाट्यशास्त्र में आदर्श मानकर अधिक विस्तार के साथ किया गया है । इसमें समग्र भूमि को दो भागों में बांट दिया जाता था, एक भाग रंगभूमि {स्टेज} और दूसरा भाग प्रेक्षक भूमि दर्शकों के बैठने के लिये {ऑडिटोरियम} । यहाँ पर श्वेत स्तम्भ के पास ब्राह्मण बैठते थे । यह श्वेत स्तम्भ मंच के ठीक सामने होता था, जिसके लिये रक्तवर्ण का स्तम्भ होता था । उत्तर-पश्चिम दिशा में पीतवर्ण का स्तम्भ वैश्यों के लिये होता था और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये नीलवर्ण का स्तम्भ ।

सामने दूसरा भाग {दर्शकों के समक्ष} रंगपीठ होता था । "रंगपीठ" के पीछे का भाग रंगशीर्ष होता था । इसके पीछे पर्दा पड़ा रहता था जिसके कई नाम पटी, अपटी और तिरस्करवी आदि मिलते हैं । इस पर्दे के पीछे का भाग नेपथ्य होता था । पृष्ठभूमि अभिनय, शोर-दूर-संगीत, कोलाहल आदि का कार्य यहीं से लिया जाता था । देवताओं की वाणी अथवा आकाशवाणी भी यहीं से अभिनीत होती थी । नेपथ्य में दो द्वारा होते थे जिनमें एक से सीधे रंगशीर्ष में प्रवेश किया जाता था । दायीं-बायीं ओर वादक बैठते थे । यह सत्य स्थायी रंगशालाओं के विषय में है । राजभवन के भीतर निश्चित रूप से ऐसी रंगशालायें हुआ करती थीं । संस्कृत नाटिकाओं में अंत:पुर के भीतर अन्त:पुरिकाओं के विनोद के लिये नृत्य-गान, नाट्य अभिनय का उल्लेख पाया जाता है । पर साधारण नागरिक यथा अवसर अस्थायी रंगशालायें बनवा लेते थे । पर इनके बनवाने में पूरी सावधानी बरती जाती थी और इनका निर्माण अत्यन्त महत्वपूर्ण जाना जाता है ।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालायें बनवा ली जाती थीं । गुफाओं और मंदिरों में भी रंगशालायें मिलती थीं । उदाहरणार्थ प्रभाव की दृष्टि से दक्षिण के चिदम्बर आदि मंदिरों पर नाट्य-शास्त्र के बताये हुए विविध अंगहार चित्रित हुये हैं ।

<u>मत्तवारिणी</u>- रंगपीठ पर "मत्तवारिणी" का विधान सर्वत्र आया है । इसे जानना आवश्यक है । मत्त-मतवाला, और वारण-हाथी । आशय है मतवाले हाथी के उठाए हुये सूंड के आकार की बनी हुई अम्बारी । "समरांगण सूत्रधार" में इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है ।

मुखभद्रं भवेद युक्तं वेदिका मत्तवारणैः ।
क्षेत्र भागोदयार्धं यूश भूमि फलकान्तरम् ।।

राजगृह अध्याय 30/9

§ऐसी भलवारी या अधारी से वेदिका का सामना सुहावना हो जाता है, जो भूमि के एक छोर से उठकर भूमि के पूरे छोर तक के भाग को ढके रहे§ ।

भारतीय नाट्य प्रणाली में मत्तवारिणी अत्यन्त आवश्यक होती थी । संस्कृत मंच पर एक ही अंक, दृश्य में कई स्थलों, भूमियों पर अभिनय करना पड़ता था । मंच-कार्य में जब पात्र कहता था, मुझे अमुक स्थान जाना है या मुझे अमुक जगह जाना है, तब पात्र मंच की परिक्रमा करके, मत्तवारिणी में सजे हुए तैयार दृश्य में पहुँच जाते थे ।

संस्कृत मंच में रंगशीर्ष पर दोनों ओर मत्तवारिणी का होना आवश्यक बताया जाता है ।

§10§ प्रेक्षागृह एवं प्रस्तुतीकरण

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी परम्परा के उद्भव के सम्बन्ध में विविध मत-मतान्तरों पर दृष्टि डालने पर ये स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में नाट्य शालाओं की एक समृद्ध परम्परा रही है । यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में नाट्य के सूत, शैलूष, कारी §विदूषक§, वामन चित्रकारिणी आदि अनेक नाटकीय पात्र तथा मंजीरा, तबला, वीणा आदि वाद्यों का स्पष्ट उल्लेख है । x इन सबसे हम ऐसी परिकल्पना कर सकते हैं कि वैदिक युग में नाट्योपयोगी सामग्रियों का एकत्रीकरण किसी नाट्य मण्डप के प्रयोग का साधन रहा होगा । आदि काव्य में वधू नाटक संघों तथा रंगशालाओं का स्पष्ट संकेत है । xx पतंजलि महाभाष्य में रंगमंडप तथा उसमें नटों की स्त्रियों द्वारा हास-परिहास का स्पष्ट संकेत मिलता है । xxx अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी नाट्यशाला का उल्लेख है । कौटिल्य ने ग्रामों में नाट्यशालाओं की रचना का निषेध किया है, किन्तु अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रसार अधिकरण में विहार-शालाओं का उल्लेख है जिनमें रंगकर्मी अभिनेता नाट्य, नर्त्तन और गायन का विधान पूरा करते थे । नाट्य मंडप और नाट्य मंडली के अभिनेताओं को विधिवत् वेतन भी मिलता था । xxxx कामशास्त्र में भी उन रंगशालाओं का उल्लेख है जो मंदिरों से सम्बद्ध होती थी । xxxxx

बौद्ध और जैन साहित्य भी नाट्य मंडप का संकेत देते हैं । ललित कलाओं के प्रति कठोर दृष्टि रखते हुए भी बोधिसत्व स्वयं नाट्याचार्य तथा अन्य नट बौद्ध पात्रों के रूप में दृष्टिगत होते हैं । xxxxxx

---

x यजुर्वेद- 30/610, 14, 20

xx वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 5/12, अयोध्याकाण्ड, 6/14

xxx तयानटानां स्त्रियो रंगगता योय: पृच्छति कस्यभूयम् इति तं तव तवेस्यातु: पतंजलि महाभाष्य-7

xxxx अर्थशास्त्र, अध्यक्ष प्रचार, द्वितीय अधिकरण अध्याय 1/2/27

xxxxx कामसूत्र 1/4/28

xxxxxx "अवदान शतक" 75वीं कथा

जैन धर्म के राजप्रेसनीय सूत्र में नाट्यमंडप के स्तम्भ, अर्द्ध चन्द्राकार तोरण, शालमंजिका, भितिलये और चित्र रचना आदि की पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है । x

कालिदास के नाटकों में स्थान-स्थान पर नाट्यमण्डप के उल्लेख हैं । "मालविकाग्निमित्रं" में राजा के प्रेक्षागृह में मालविका के संगीत तथा अभिनय कला सीखने का सन्दर्भ है । xx शाकुंतलम् में संगीतशाला में देवी हंसपदिका स्वर साधना कर रही हैं । xxx

इस नाटक के प्रथम अंक में भी सूत्रधार दर्शकों के समक्ष रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले नाटक की सूचना इसे नाट्य प्रयोग विज्ञान कहकर देता है । xxxx ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रेक्षागृह संगीतशालाएं तथा चित्रशालाएं राजभवनों के अंग थे । संस्कृत नाटकों की प्रस्तावनाएं नाट्य मंडप सम्बन्धी इन तत्वों की पर्याप्त पुष्टि करती है ।

नाट्यशाला के सम्बन्ध में पुराणों के साक्ष्य भी महत्वपूर्ण हैं । हरिवंश पुराण, विष्णु धर्मोत्तर, मत्स्य और अग्नि पुराण में महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है । विष्णु धर्मोत्तर पुराण में दो प्रकार के नाट्यमंडपों के संकेत हैं । xxxxx

शिल्परत्न, xxxxxx मानसार, xxxxxxx संगीत रत्नाकर xxxxxxxx और भाव प्रकाशन xxxxxxxxx में नाट्यशाला के प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

---

x राजप्रसेनीय सूत- 36 पृ0 86-87

xx तेन हि द्वावपि प्रेक्षागृहे संगीत रचना कृत्वा ।
मालविकाग्निमित्र, अंक-2/2-1

xxx तथा मोवयस्य संगीतशालभ्यन्तरे बधानं देहि-
अभिज्ञान शाकुन्तलम्- अंक-5

xxxx आपरितोषाविद्षां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्
अ0शा0

विद्वानों ने सीता बेंगा और जोगामारी गुफाओं के प्रेक्षागृहों से नाट्य मंडपों की अति प्राचीनता का अनुमान किया है । इस समस्त सामग्री से इतना स्पष्ट है कि राज-प्रासादों से लेकर पर्वत गुफाओं तक हमारी नाट्यशालाओं का विस्तार एवं प्रचार था ।

"नाट्यशास्त्र" में भरत मुनि ने गम्भीरता एवं गहनतापूर्वक नाट्य मंडप पर दृष्टि केन्द्रित की है । मुस्लिम आक्रमणों तथा अन्य प्रकोपों के कारण आज प्राचीन रंगशाला का रूप सामने नहीं है । आज भरत का नाट्यशास्त्र ही एक ऐसा प्राचीन साक्ष्य है जिसके आधार पर प्राचीन रंगशालाओं की विस्तृत एवं सर्वथा प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध होती है । x

भरत के नाट्यशास्त्र में रंगशाला के निर्माण के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बताया गया है । xx कीथ की पुस्तक संस्कृत ड्रामा भीभरत कल्पित नाट्य मंडप का कुछ विवरण देती है, किन्तु डा0 राघवन् कीथ के मत को प्रामाणिक एवं सही नहीं मानतेxxx

"नाट्यशास्त्र" में आकार की दृष्टि से रंगशाला के तीन प्रमुख भेद माने गये हैं । विकृष्ट §आयताकार§, चतुरस्त्र §वर्गाकार§, त्र्यस्त्र §त्रिभुजाकार§ इनके साथ ही ज्येष्ठ मध्य तथा कनिष्ठ तीन भेद और माने गये हैं ।

---

x There is ample evidence to show that the names of 'rangathumi' and 'natakasala' connote not some sort of architectural structures but well planned, well built, decorated, beautiful theatres. The Theatre of the Hindus article by Dr. V. Raghawan. Theatre Arctitecture in Ancient India P. 156.

xx जयशंकर प्रसाद "काव्य और कला" तथा अन्य निबन्ध पृ0 92

xxx The Theatre of the Hindus- P. 157

भरत मुनि ने आकार तथा परिमाण की दृष्टि से तीन प्रकार के नाट्य मंडपों का स्पष्ट उल्लेख किया है । ज्येष्ठ नाट्यमंडप देवताओं के लिए उपयोगी है । मनुष्यों के लिए मध्य नाट्य-मंडप उपयोगी है । विशाल होने के कारण ज्येष्ठ नाट्य-मंडप प्रेक्षकों की दृष्टि से कठिनाई उत्पन्न करता है, क्योंकि अभिनेताओं की भाव-भंगिमाएं स्पष्ट नहीं हो पातीं । अत: भरत ने विकृष्ट §64 × 64 हाथ§ का निषेध कर 64 × 32 हाथ की स्वीकृति दी है । अत: मनुष्यों के लिए विकृष्ट ज्येष्ठ §64 × 32§ चतुरस्त्र मध्यम §32 × 32 हाथ§ तथा त्र्यस्त्र अवर §32 × 16 हाथ§ माना जा सकता है ।

<u>विकृष्ट मध्यम आयताकार नाट्यमंण्डप</u>- मानव के लिए यह सर्वाधिक उपयोगी होता है । इस आयताकार मण्डप की लम्बाई , चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी होती है अर्थात् 64 × 32 । उजले दृढ़ सूत्र से नाप करने के साथ भूमि की सही जुताई से तथा भूमि से कील, पत्थर, कपाल आदि अपशकुन युक्त पदार्थों को निकालदिया जाए।× माप के समय सूत्र का टूटना अपशकुन है, ऐसा होने पर अनिष्ट होता है । ×× भरत मुनि इस आयताकार विकृष्ट नाट्यमण्डप को दो समान भागों में विभक्त करने के पक्ष में हैं । ऐसा करने पर नाट्यभूमि 32 × 32 हाथ के दो वर्गाकार खण्डों में विभक्त हो जाती है । आगे के भाग में 32 × 32 हाथ का प्रेक्षकोपदर्शन रहता है तथा 32 × 32 हाथ के शेष पृष्ठभाग में क्रमशः रंगपीठ, रंगशीर्ष और नेपथ्य गृह के लिए स्थान बचा रहता है । एकदम पीछे 16 × 32 का नेपथ्य गृह रह जाता है । इसी के शेष आधे भाग में रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा मत्तवारिणी भी रहती है । इस प्रकार रंगपीठ 16 × 8 हाथ के माप का होता है । रंगपीठ तथा नेपथ्य-गृह के मध्य 32 × 8 हाथ का रंगशीर्ष होता है । पात्र रंगभूमि में जाने के लिए नेपथ्य-गृह से आकर प्रस्तुत होते रहते हैं । ×××

× नाoशाo 27

×× नाoशाo 29

××× नाoशाo 33/34

आधुनिक विद्वान भरत द्वारा प्रस्तुत विकृष्ट मध्यम नाट्यमंडप में रंगपीठ, रंगशीर्ष तथा मत्तवारिणी x को लेकर गहरा विवाद प्रस्तुत करते हैं । मनकद तथा बी0 राघवन अभिनव गुप्त की भाँति रंगपीठ तथा रंगशीर्ष की पृथम स्थिति मानते हैं । xx मनमोहन घोष तथा सुब्बाराव आदि विद्वान रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को अलग न मान कर पर्यायवाची रूप में मानते हैं । xxx नाट्यशास्त्र के पृथम अध्याय में रंगमंडप की रक्षा के सन्दर्भ में "रंगपीठ" शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है, "रंगशीर्ष" का नहीं । त्र्यस्त्र नाट्य मण्डप के विधान के प्रसंग में भी "रंगशीर्ष" शब्द का प्रयोग न होकर "रंगपीठ" का हुआ है । xxxx

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है रंगपीठ तथा वेदिका का उल्लेख । वेदिका में ही अग्निदेवी की स्थापना होती है । यह वेदिका ही रंगशीर्ष है और रंगपीठ के पीछे के हिस्से में 8 x 8 हाथ के वर्गाकार व्यास में यह मानव के शीर्षाकार में उठी होती है । पूर्व रंग के प्रसंग में यहीं पर रंगपूजा होती है । अत: रंगपीठ रंगशीर्ष से निश्चय ही भिन्न है । xxxxx 64 हाथ लम्बा और 32 हाथ चौड़ा जो क्षेत्र मध्यम परिणाम वाले विकृष्ट या आयताकार नाट्यमंडप के लिए नियत किया जाता है, उसे चार भागों में विभक्त किया जाता है-

1- सबसे पहले "द्विधाकुर्मात" लिखकर भरत मुनि ने 64 x 32 हाथ की लम्बाई को दो भागों में बांटा जिससे 32 x 32 हाथ के दो वर्गाकार क्षेत्र बन गये । यह पृथम बार विभाग हुआ और उससे बत्तीस-बत्तीस हाथ लम्बाई के दो क्षेत्र तैयार हुए ।

---

x नाट्यशा० 90, 95

xx नाट्यशा० 2/68, अभिनव भारती, भाग 1 पृ० 210

xxx Indian Historical Quantity, P. 591, Year 1933

xxxx Indian Historical Quantily, 2/102-113, Year 1933

xxxxx नाट्यशा० 1/85, 95, 99

2- इसके बाद इन दो भागों में से (पृष्ठतो यो भवेद्भागो) जो पिछला भाग है, उसको फिर द्विधाभूतस्य तस्यतु लिखकर भरत मुनि ने दो भागों में विभक्त कर दिया । इस विभाजन से 32 × 32 हाथ वाला पिछला टुकड़ा 16 × 32 हाथों के आकार के दो खण्डों में विभक्त हो गया ।

3- इन 16 × 32 हाथों वाले दो टुकड़ों में से जो अलग भाग हैं, उसको फिर समपर्ध-विभागेन लिखकर भरत मुनि ने दो बराबर के भागों में विभक्त कर दिया है । इस विभाजन से ये दो दोनों टुकड़े 8 × 32 हाथ के बन गये ।

4- इनके पीछे 16 × 32 हाथ का एक टुकड़ा और बच रहा । इस प्रकार चौंसठ हाथ वाले भूमि खण्ड को बीच में तीन बार या तीन रेखाओं से विभक्त करने पर उसके चार खण्ड बन जाते हैं । ×

इनमें से पहला या सबसे आगे का खण्ड 32 × 32 हाथ का, दूसरा खण्ड 8 × 8 हाथ का, तीसरा खण्ड 8 × 32 हाथ का तथा पीछे और अंतिम भाग का खण्ड 16 × 32 हाथ का बनता है । प्रथम भाग प्रेक्षकों के बैठने का स्थान है, दूसरा भाग अभिनय का प्रमुख स्थान है । इसे ही "रंगपीठ" कहते हैं । तीसरा खण्ड रंगशीर्ष है । इसमें वादकों के बैठने का स्थान है तथा वाद्य आदि रखे जाते हैं । इन तीनों के बाद सबसे पीछे 16 × 32 हाथ का एक भाग और बचता है । यही चौथा भाग नेपथ्यगृह के लिए नियत किया जाता है । नेपथ्यगृह में पात्र, वेशभूषा आदि के परिवर्तन की व्यवस्था करते हैं ।

× हिन्दी अभिनव भारती पृ0 289

<u>मत्तवारिणी</u>- मत्तवारिणी "नाट्यशास्त्र" की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है । "मत्तवारिणी" शब्द का सही अर्थ क्या है ? मत्तवारिणी का आकार या स्थान तथा उसकी संख्या कितनी है ? नाट्यशास्त्र तथा अभिनव भारती दोनों में ही यह शब्द प्रयुक्त हैं, किन्तु आचार्य विश्वेश्वर को यह शब्द संदिग्ध प्रतीत होता है । उनके मत से "मत्तवारिणी" शब्द होना चाहिए कोष तथा साहित्य के प्रमाण से मत्तवारिणी शब्द उपयुक्त नहीं है । x आधुनिक विद्वानों में इस शब्द के अर्थ को लेकर भारी मतभेद है, क्योंकि इस शब्द की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है । मत्तवारिणी की संख्या पर भी विवाद है कि मत्तवारिणी एक होनी चाहिए अथवा दो । अगला प्रश्न उसके आकार से सम्बन्धित है । "नाट्यशास्त्र" में रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्य मत्तवारिणी मिलता है ।

आचार्य विश्वेश्वर कहते हैं कि आरम्भिक लिपिकार के प्रमाद से"कर्त्तव्यों मत्तवारेण्यें"के स्थान पर "कर्त्तव्या मत्तवारणी" आ गया है एवं इसी से समस्त समस्याएं उत्पन्न हुई हैं । "मत्तवारणी" शब्द कोष-ग्रन्थों अथवा साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता । "मत्तवारण" शब्द अवश्य मिलता है जिसका अर्थ है- "बरामदा" xxx अभिनव-गुप्त ने रंगपीठ के दोनों ओर मत्तवारिणी या बरामदों के बनाने का विधान दिया है । डा0 घोष तथा मनकद रंगमण्डल के भीतर ही मत्तवारिणी को मानते हैं । प्रो0 सुब्बाराव ने "नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण के अन्त में एक लेख लिखा है-"प्रेक्षागृह का रचना विधान "मत्तवारिणी" को लेकर उनका कहना है कि मत्तवारिणी एक ही होती है । इसका अर्थ है रंगपीठ के सामने की ओर धरातल से डेढ़ हाथ उठे हुए भाग की दीवार पर जो प्लास्टर किया जाए उसमें मत्त हाथियों के चित्र बनाए जाएं । यह प्लास्टर में बनी हुई मत्त हाथियों की पंक्ति ही मत्तवारिणी है । प्रो0 भानु का एक मत यह भी है कि मत्तवारिणी मत्तों का वारण करने वाली । नाटक के भावपूर्ण दृश्य को देखकर प्रेक्षक कभी-कभी उन्मत्त हो उठते हैं तथा भावावेश में आकर मंच पर अभिनेताओं तक पहुँचना

---

x हिन्दी अभिनव भारती- पृ0 312

xx ना0शा0

xxx हिन्दी अभिनव भारती पृ0 314

चाहते हैं । यदि सभी प्रेक्षक मंच तक पहुँच जाएगें तो नाटक ही समाप्त हो जाएगा । अत: इन लोगों को रोकने की दृष्टि से रंगपीठ के सामने की ओर छोटी सी दीवार या कटघरा लगा देना आवश्यक है । इसीलिए इस रोक को "मत्तवारणी" कहते हैं । x

मत्तवारणी के सम्बन्ध में प्रसादजी का मत भी प्रो0 भानु के समकक्ष ही है ।

"मत्तवारणी" के कई तरह के अर्थ लगाए गये हैं । अभिनव भारती में मत्त-वारणी के सम्बन्ध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देव मंदि की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी .... किन्तु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खम्भों से रूकावट के लिए बनाई जाती थी । मत्तवारणी शब्द से भी यह अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे । यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी । xx

<u>चतुरस्त्र नाट्यमण्डप</u>- भरत के मत से ऐसा नाट्यमण्डप वर्गाकार 32 x 32 हाथ का होना चाहिए । भितिरचना मजबूत पक्की ईंटों से होनी चाहिए । इस नाट्यमंडप में 24 स्तम्भों की रचना के बारे में निर्देश हैं जो नेपथ्यगृह तथा प्रेक्षास्थल से पर्याप्त दूरी पर होते हैं । चतुरस्त्र समतल नाट्यमण्डप के मध्य आठ हाथ का वर्गाकार रंगपीठ होता है तथा दोनों किनारों पर 12 x 8 की चार स्तम्भों वाली मत्तवारणी ।

त्र्यस्त्र नाट्यमण्डप का स्वरूप त्रिभुजाकार होता है । इसकी भित तथा स्तम्भ चतुरस्त्र नाट्यमण्डप के ढंग की ही होती है । इसमें तीन द्वार होते हैं- दो नेपथ्य गृह की ओर तथा एक प्रेक्षकों के प्रवेश हेतु । भरत ने इस रंगमंडप का माप नहीं दिया ।

---

x हिन्दी अभिवन भारती पृ0 317

xx जयशंकर प्रसाद "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0 93-94

रंगपीठ की रचना षड्दारुक से की जाती है । इसका अर्थ प्रो० सुब्बाराव ने किया है कि रंगपीठ लकड़ी के ढांचे का बना होता है ।

प्रेक्षागृह के द्वारों तथा प्रवेश-मार्गों की समुचित व्यवस्था की बात आचार्यों ने की है । यह विवरण ध्वनि-प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही वैज्ञानिक है । रंगमण्डप में सम्मुख द्वार न हों, ताकि उच्चरित शब्द प्रतिध्वनित होने में बाधा न हो । इसी दृष्टि से "शैलगुहाकार नाट्य मण्डप" की कल्पना की गई है जिसमें वातायन छोटे-छोटे हों ताकि उच्चरित शब्दों को गम्भीरता प्राप्त हो सके । x

श्री जयशंकर "प्रसाद" ने अपने "रंगमंच" नामक लेख में लिखा है कि नगर की रंगशालाओं का स्वरूप पर्वत-गुफाओं को आटकर बनाए जाने वाले मंदिरों के अनुरूप होता था । कार्य: शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डप: §ना०शा० 2/81§ से यह कहा जा सकता है कि नाट्य मंदिर दो खण्ड के बनते थे और वे प्राय: इस तरह के बनाए जाते थे जिससे उनका प्रदर्शन विमान का सा हो । शिल्प सम्बन्धी शास्त्रों में प्राय: द्विभूमिक, दो खण्डे या तीन खण्डे प्रसादों को, जो कि स्तम्भों के आधार पर अनेक प्रकारों के बनते थे, विमान कहते हैं । यहां "द्वि भूमि" से ऐसा ही अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा अभिनय के लिए बनता था, किन्तु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार में लाए जाते हैं, उनकी ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ । xx

द्विभूमि नाट्यमण्डप के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने अपने पूर्व के अन्य आचार्यों के मत भी दिये हैं । इनमें एक मत यह भी है कि रंगमण्डप दो मंजिला होता था । इन

---

x तस्यान्निवात: कर्त्तव्य: कर्तृभि: नाट्यमण्डप:
गम्भीरत्वरता येन कुतपस्य भविष्यत ।" ना०शा०-2/81

xx जयशंकर प्रसाद, "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० 72

सभी मतों में भट्ट तौत का मत आधुनिक प्रेक्षागृह के सबसे निकट है । उनके मत में "द्विशब्द" "वीप्सागय" नाट्यमंडप में रंगपीठ के निकट से प्रेक्षकोंवेशन के द्वारा मत में तकनीकी ऊँची नीची दो प्रकार की भूमि पर क्रमशः नीचे से ऊँचाई की ओर सीढ़ीनुमा ¤सोपान कृति¤ आसानों की रचना होती है । ये आसन क्रमशः रंगपीठ की ऊँचाई के समान हो जाते हैं । इस द्विभूमि आसन व्यवस्था में सामाजिक परस्पर एक दूसरे को आच्छादित नहीं कर पाते x तथा नाट्य मंण्डप का आकार शैलगुहा की तरह हो जाता है ।

अभिनव गुप्त भी ऐसी निम्नोन्नत आसन विधि के पक्ष में हैं तथा रंगमण्डप के शैलगुहाकार को उचित मानते हैं ताकि उच्चरित शब्द प्रेक्षकोंपवेशन तक प्रतिध्वनि हो सके । xx

नाट्यशास्त्र में स्तम्भ स्थापना विधि का वर्णन चतुरस्त्र नाट्यमण्डप के प्रसंग में है । विभिन्न प्रकार के नाट्य मण्डपों में कुल कितने स्तंभ हों, यह स्पष्ट नहीं है । अन्य आचार्यों ने भी इस सम्बन्ध में मत दिये हैं, परन्तु वे सभी किसी एक मत तक न पहुँच सके । अभिनव भारती के त्रुटिपूर्ण पाठ के कारण इन आचार्यों के विचार पर्याप्त स्पष्ट नहीं हो पाये । आचार्य विश्वेश्वर ने इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया है । आचार्य अभिनव के मत से यह स्तम्भ परस्पर आठ हाथ की दूरी पर न हो xxx ताकि प्रेक्षकों को देखने में सुविधा रहे ।

द्वार-रचना के विषय में भरत मुनि ने रंगशीर्ष के पृष्ठभाग में स्थित नेपथ्यगृह के दो द्वारों का सर्वप्रथम विधान किया है । xxxx इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी

---

x अभिनव भारती भाग 1, पृ0 63, 64

xx तत्रैव शब्दस्य भ्रमणात् अन्योन्य प्रतिश्रुतिकर समारम्भैः सम्पूर्णाच्च भाग 1, अ0भा0 पृ0 64

xxx हिन्दी अभिनव भारती, पृ0 376

xxxx कार्यं द्वार द्वमयात्र नेपथ्यगृह कस्यतु
द्वारं चैकं भवेतत्र रंगपीठ प्रवेशकम्

रंगपीठ के लिए एक द्वार तथा जन समाज के प्रवेश के लिए एक द्वार प्रेक्षक गृह में रंगपीठ के सम्मुख हो । x

अभिनव गुप्त ने प्रेक्षक, पात्र तथा नाट्य प्रयोग की सुविधा की दृष्टि से चार द्वारों की कल्पना भरत के समान की । xx

कुछ आचार्यों द्वारा की गई छः द्वारों की कल्पना का भी उल्लेख है जिनके अनुसार दो द्वारों की रचना पार्श्व में प्रकाश के लिए की जाती है । xxx

आधुनिक काल में सब आचार्यों से भिन्न द्वारों की कल्पना डी0आर0 मनकद ने की । xxxx

स्तम्भों, जालियों तथा झरोखों के लिए काष्ठ शिल्प की चर्चा है । प्रेक्षकोपवेशन में आसन-रचना प्रणाली के बारे में आदि आचार्य ने कहा है कि आसन रचना स्तम्भों के बाहर"सोपान कृति"में होनी चाहिए तथा आसनों की पंक्तियां एक दूसरे से एक हाथ ऊपर की ओर उठती हुई हों । xxxxx आसन रचना में ईंट तथा लकड़ी का प्रयोग होता था, प्राचीन ग्रीक नाट्यशाला का प्रेक्षास्थल भी ढलान पर सीढ़ीनुमा होता था, इसी कारण डा0 रघुवंश ने लिखा है- "ग्रीक नाट्यशालाओं की बैठने की व्यवस्था के समान यह व्यवस्था जान पड़ती है । xxxxxx

---

x जग प्रवेशनं चाल्यदारियमुल्येन कारयेत्
रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीय द्वारभवेतु नाट्यशा0 2/96/97

xx अभिनव भारती, भाग-1, पृ0 96

xxx अभिनव भारती, भाग-1, पृ0 70

xxxx D.R. Mankad, Hindu Theatre, Indian Historical, Quarterly P.491

xxxxx स्तम्भानां बाह्यनातश्चापि सोपान कृति पीठकम्
इस्टकदारुभिः कार्यं प्रेक्षकानां निवेशनम् ।
हस्तप्रमाणैः उप्सयैः भूमिभाग समुत्थयैः
रंगपीठवलोक्यं तु कुर्मादारासनं विधिम् नाट्यशा0 2/90

यवनिका- यवनिका के सम्बन्ध में कीथ की संस्कृत नाट्य साहित्य पर लिखी गई पुस्तक में विडिंश्च प्रभृति विद्वानों का मत दिया गया है कि यवनिका भारतीय नाट्य मण्डप को यूनानी प्रभाव की देन है । x यूनानियों के लिए भारत में "यवन" शब्द प्रयुक्त होने के कारण यवनिका शब्द से यूनानी प्रभाव का अर्थग्रहण किया गया है । किन्तु इस सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक जानकारी न होने के कारण भारतीय "यवनिका" पर यूनानी प्रभाव की बात निराधार है क्योंकि स्वयं यूनानी रंगशाला में ही यवनिका जैसी कोई वस्तु न थी । ध्यातव्य है कि यवनिका सज्जित रंगमंच का प्रयोग पश्चिमी रंगशाला में रेनेसां काल में ही हुआ था । रोमी रंगमंच पर औलिअम (Auleum) नामक पर्दे के प्रचलन की चर्चा विद्वानों ने की है, किन्तु वह स्वयं यह मानते हैं कि यह पर्दा आधुनिक कर्टेन की भांति न था, अपितु इसे रंगमंच के आगे के खाली गड्ढे (Recess) में गिराया जाता था । xx इसका प्रयोग भी किस मात्रा में होता था, इसके बहुत कम प्रमाण उपलब्ध है ।

नाट्यशास्त्र में भी यवनिका के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है । पांचवें तथा बारहवें अध्यायों में "यवनिका" तथा "पटी" शब्द प्रयुक्त हैं । xxx अभिनवगुप्त के अनुसार थके हुए पात्र यवनिका के पीछे से प्रस्थान करते हैं अथवा प्रवेश के लिए तैयार पात्र उसके पीछे खड़े होते हैं । xxxx अभिनव भारती में यवनिका-अपसारण तथा नानार्थ रस सम्भव पात्र के विधान से स्पष्ट होता है कि यवनिका का प्रयोग ड्राप-कर्टेन (Drop Curtain) के समान रंगमंच तथा प्रेक्षकोपवेशन के मध्य किया जाता था । पूर्व रंग के प्रसंग में भी अभिनवगुप्त ने यवनिका का उल्लेख किया है कि एक यवनिका रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के मध्य विभाजक भित्ति के रूप में भी रहती थे । xxxxx

---

x Keith- Sanskrit Drama P. 61

xx The development of the Theatre. A Nicoll P. 57

xxx नाट्शा० 25/11-12, 12/3

xxxx ततः पात्राणांविश्रान्त्यै आगच्छत च गुप्ते रंगस्य शोभाय ।

xxxxx अभिनव भारती, भाग । पृ० 130, 210

डा0 मनमोहन घोष के मत से एक यवनिका नाटक के आरम्भ तथा अन्त में ड्राप-कर्टेन की भांति तो प्रयुक्त होती थी साथ ही दो और यवनिकाएं रंगपीठ तथा नेपथ्यगृह के मध्य होती थीं। x मनकद तथा ए0के0 कुमारस्वामी रंगपीठ के अग्रभाग में ड्राप-कर्टेन की स्थिति को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि संस्कृत नाटकों का अंत किसी चमत्कारपूर्ण नाटकीय घटना पर नहीं होता। कुमारस्वामी रंगपीठ एवं नेपथ्यगृह के मध्य दो यवनिकाओं को तो स्वीकार करते हैं। xx डा0 सी0बी0 गुप्ता के मत से यवनिका केवल एक ही रही होगी और रंगपीठ और नेपथ्य अथवा रंगशीर्ष के मध्य होती होगी। xxx जगदीशचन्द्र माथुर का मत है "यवनिका" ड्राप-कर्टेन के ढंग का पर्दा नहीं होता। उसे तो दो व्यक्ति उस समय लेकर खड़े होते हैं जब किसी प्रधान पात्र या पात्री का प्रथम प्रवेश होने वाला होता है। xxxx

श्री गोबर्धन पांचाल भी ड्राप कर्टेन वाले सुझाव को निरर्थक मानते हैं और संस्कृत नाटकों से अपने मत को पुष्ट भी करते हैं..... इन नाटकों में प्रत्येक अंक की समाप्ति पर सारे पात्र प्रस्थान करते थे {निष्क्रान्ता: सर्वे} और नाटक के अंत में भरत वाक्य होता था जिसके बाद पात्रों के प्रस्थान का नियम था। xxxxx

किन्तु संस्कृत नाटकों में अनेक ऐसे दृश्यों का विधान है, जिनसे प्रमाणित होता है कि यवनिका का प्रयोग ड्राप-कर्टेन की भांति होता होगा। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में आसनस्थ राजा तथा विदूषक का प्रवेश xxxxxx मृच्छकटिक में आसनस्थ उत्कंठित वंसतसेना तथा मदनिका xxxxxxx का अपसारण होता था तथा सम्बन्ध पात्र अचानक

---

x नाट्यशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद पृ0 77 {पाद टिप्पणी}

xx Indian Historical Quarterly P. 494-95 Year 1932

xxx Dr. C.B. Gupta, Indian Theatre P. 58

xxxx श्री जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य पृ0 64

xxxxx गोवर्धन पांचाल, लेख भरत की यवनिका, नटरंग 25, जनवरी-जून, 1975 पृ0 53

xxxxxx तत: प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च। अभिज्ञान शाकुन्तलम् अंक 5

xxxxxxx तत: प्रविशति आसनस्था सोत्कण्ठा बसंतसेना मदनिका च- मृच्छकटिक, अंक 2

दर्शक के सम्मुख उपस्थित होते थे। संस्कृत नाटकों में अधिकांश स्थलों पर ऐसे दृश्य निर्देशों की योजना है तथा "यवनिका", "पर्टी","तिरस्करणी", "प्रतिशिरा" आदि का उल्लेख मिलता है। तिरस्करणीयमयनीय राजानमुपेत्य x तथा ततः प्रविशल्य पटीक्षेपणं राजा पुस्वा स्थन सूनश्च्य। xx

एस०एम० टैगोर के मत से प्राचीन रंगमंच पर यवनिका का प्रयोग अंक-दृश्य परिवर्तन के समय होता था। xxx

प्राचीन रंगमंडप के भग्नावशेष रूप बची सरगुजा रियासत की रामगढ़ गुफाओं में एक छोटी सी रंगशाला है तथा निम्नोन्नत शैली में बना प्रेक्षकोपवेशन है। इन गुफाओं के दोनों पाश्र्वों में दो छिद्र हैं। विद्वानों का अनुमान है कि इन छिद्रों में डंडा लगाकर यवनिका टांगी जाती थी। इस रंगशाला की खोज ब्लोश महोदय ने की। xxxx

यवनिका के सम्बन्ध में प्रसादजी ने भी अपना मत व्यक्त किया है। यवनिका को पाश्चात्य प्रभाव मानने वाले मत का घोर खण्डन करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि यवनिका शुद्ध रूप से भारतीय रंगकला का अंग है-

"कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में "यवनिका" यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गयी है, किन्तु मुझे यह शब्द रूप से व्यवहृत "जवनिका" भी मिला है। अमरकोष में- प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करणी च सा तथा हलायुध में अपटी कांड पर: स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करणी।"

---

x विक्रमोर्वशीय अंक 2

xx विक्रमोर्वशीय अंक 1

xxx S.N. Tagore- The Eight Principal Rasas of Hindus P.58-59

xxxx (a) Archacological Survey of Indian. Annual Report 1003-4 Caves and Inscription in Ramgarh Hills- Block P.123

(b) Indian Antiquary's Ramagarh Hills in Sarguze. J.A.S. Burges P. 195-196 Vol. 34.

इसमें "य" से नहीं किन्तु "ज" से ही जवनिका का उल्लेख है । जवनिका से शीघ्रता का द्योतक होता है । "जव" का अर्थ वेग और त्वरा से है । तब "जवनिका" उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया-गिराया जा सके । कांड पट भी इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का प्रयोग हो । प्रतिसीरा और तिरस्करणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं । प्रतिसीरा तो नहीं, किन्तु तिरस्करणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है । ... प्रतिसीरा का प्रयोग भी सम्भव है, खोजने से मिल जाए, किन्तु अपटी शब्द अत्यन्त संदेहजनक है । मृच्छकटिक विक्रमोर्वशी आदि में तत: प्रतिशत्य परीक्षेपण कई स्थानों पर मिलता है । इसलिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है । सम्भवत: अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था, जहां सहसा पात्र उपस्थित होता था । उसी अंक में अन्य पात्रों के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था । यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यान्तर ॥ट्रान्सफर सीन॥ उपस्थित करने में उनका भी प्रयोग करते थे ।x

"भरत की यवनिका" नामक अपने निबन्ध में गोवर्धन पांचाल ने लिखा है कि यवनिका का प्रयोग रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में होता था । 19 में से 9 पूर्वरंग यवनिका के पीछे से किए जाते थे । यह यवनिका तीन टुकड़ों में प्रयुक्त होती थी, क्योंकि 32 हस्त की चौड़ाई में एक दीवार से दूसरी दीवार तक तने लम्बे परदे में कुछ व्यावहारिक कठिनाईयां भी होती हैं, जैसे कि वह अपने ही बोझ से झूल जाएगी । अत: पांचाल जी के मत से कुल यवनिकाएं तीन हैं, एक-एक तीनों अभिनय क्षेत्रों में- दो मत्तवारणी और एक रंगपीठ के पीछे । उन्होंने अभिनव गुप्त के इस मत का खण्डन किया है कि प्रवेश करने को तैयार अभिनेता यवनिका के पीछे खड़े होते थे क्योंकि यह कार्य पटी-अपटी द्वारा होता था । xx अजंता के चित्रों का उदाहरण देकर भी उन्होंने बताया है कि रंगमंच की यवनिका खम्भों पर लगी हुई खूंटियों पर डोरी द्वारा तानी जाती होगी और छल्लों पर खिसकाई जाती होगी । xxx

---

x जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 96-97
xx नटरंग, 25 अंक, जनवरी-जून, 1975, पृ0 50, 51
xxx नटरंग, 25 अंक, जनवरी-जून, 1975, पृ0 51

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी रंगशिल्प का विकास

- भारतेन्दु युग
- द्विवेदी युग
- प्रसाद युग
- प्रसादोत्तर युग
- आधुनिक युग

अध्याय: चार:- हिन्दी रंगशिल्प का विकास

श्रेष्ठ साहित्य युग के सम्पूर्ण बोध को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मूर्त-अमूर्त संकेतों-प्रतीकों से रेखांकित करता है । यही कारण है कि प्रत्येक युग के साहित्य की अपनी अलग विशेषता होती है जो बहुत कुछ उस युग के प्रभाव दबाव या युग की सामयिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती है । युग सत्य के साथ यदि लेखक तीव्रता से साक्षात्कार नहीं करता तो वह मार्मिक और सार्थक साहित्य का सृजन नहीं कर पाता । कहना न होगा कि लेखक की अनुभूति उसकी परिवेशगत सीमाओं से बाहर नहीं हो सकती, इसीलिए बड़े लेखक अपनी परिस्थिति के साथ शाश्वत का सामयिक के साथ मौलिक पारिवारिक स्तरों पर सम्बन्ध रखते हैं । युगीन वास्तविकता की उपलब्धि बहुत सरल नहीं है ।

आधुनिक काल हिन्दी साहित्य का विचार क्रान्तिमूलक परम्परा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल है । इस प्रकार से उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी भारतीय जन जीवन और साहित्य के क्षेत्र में नवजागरण नवोत्थान एवं आधुनिकता के उत्तरोतर विकसित होते हुए प्रभाव की शताब्दी है । x

राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टियों से 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी का आरम्भ इतना विशिष्ट है कि इस युग के साहित्य में पुनरुत्थान की प्रवृति मुखर है । विश्व के विभिन्न देशों की विचारधाराओं से पुष्ट भारतवर्ष के देशव्यापी आन्दोलनों और परिवर्तनों से प्रेरित यह काल राष्ट्रीय चेतना की प्रेरणा के प्रसार से जगमग शतक है । स्वतंत्रता आन्दोलन का उद्देश्य मात्र राजनीतिक नहीं रहा, एक सीमा पर वह देशव्यापी पुनर्जागरण का आन्दोलन कहा जा सकता है । राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान की चेतना इतनी तीव्रता के साथ परिव्याप्त हो गयी कि सजग कलाकार उसको व्यक्त करने के माध्यम बन गये । देश में अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का भण्डाफोड़ होने के कारण राष्ट्रीय चेतना में नयी धारा पैदा हो गयी तथा स्वतंत्रता

---

x हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड सम्पादक डा0 धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठभूमि-2 पृ0 20

एवं स्वायत्तता की प्राप्ति के लिए जनमानस पूरी तरह तैयार हो गया। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से नवीन ज्ञान के वातायन खुले और भारतीय जीवन का ठहराव उस चेतना के धक्के से गतिशील हो उठा। रीतिवाद के स्थान पर बुद्धिवाद, मायावाद के स्थान पर मानववाद-मानवतावाद, भावना के स्थान पर यथार्थवाद और तर्कवाद की स्थापना हुई। मध्यकालीन बोध रहने तथा नवीन सांस्कृतिक आन्दोलनों की जीवन्तता और जीवट ने जनजीवन, धर्म, दर्शन तथा समाज और साहित्य में युगान्तर उत्पन्न कर दिया। नवीन शिक्षा पद्धति ने वैज्ञानिक और व्यापक अन्तर्दृष्टि के प्रभाव दबाव से जर्जरित मृतप्राय जड़ताग्रस्त, रूढ़िवादी, अंधानुगामी रीतियों पर प्रबल आघात किए। प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न होकर लुप्त होने लगी। भगवान को केन्द्र से हटाकर मनुष्य केन्द्र में स्थापित किया गया।

भारत में यूरोप के आगमन से एक ऐसी नवीन चेतना का उदय हुआ जिससे हमारे आधुनिक काल को नयी दृष्टि तथा नया दृश्य प्राप्त हुआ। संस्कृतियों के सम्पर्क से एक सामासिक संस्कृति का जन्म हुआ-अतएव भारत में नवोत्थान का जो आन्दोलन हुआ उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परम्परा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं प्रत्युत यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाना था। x ईसाई पादरी तथा अंग्रेजी पढ़े लोग आरम्भ में भारतीय संस्कृति की निन्दा कर रहे थे, किन्तु भारतीय संस्कृति ने अपने को हेय मानकर यूरोप के सामने घुटने नहीं टेके। न ही वह अपने को भूलकर यूरोपीय अनुकृति में पड़ गयी। पाश्चात्य चेतना से उत्पन्न नवीन प्रभाव को डा० रमेश कुंतल मेघ ने भारतीय संस्कृति में पांचवें रेनेसां की प्रबल भूमिका कहा है। xx किन्तु अधिकांश विद्वान भारतीय नवोत्थान का सम्बन्ध वेदान्त से जोड़ते हैं- वेदान्त ने बुद्ध दिया, वेदान्त ने शंकर को चमकाया। वेदान्त की नयी व्याख्या करके रामानुज ने भक्ति का मार्ग प्रस्तुत किया, जब ईसाइयत तथा विज्ञान भारत पहुँचे तो फिर भारत ने वेदान्त का सहारा लिया। जिस नवोत्थान का आरम्भ राजा राम मोहन राय, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और

---

x रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय हिन्दू नवोत्थान प्रकरण 4 पृ० 537

xx डा० रमेश कुंतल मेघ- आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण पृ० 19

गांधी ने लिया, वेदान्त उस आन्दोलन की रीढ़ है । x

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की ओर उन्मुखता का सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही हो गया था । आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया । xx तथा हमारे साहित्य को नये नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले भारतेन्दु ही हुए । xxx इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो सम्बन्ध विच्छेद हो गया था, उसमें घनिष्ठता स्थापित हुई । धन पक्ष में पहिली उल्लेखनीय प्रवृत्ति सांस्कृतिक चेतना ही है । मूलत: इस काल में यह भी राष्ट्रीय जागृति के साथ सम्बद्ध रही । भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त और उनके शिष्यों तक की परम्परा, एक साथ ही राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक चेतना के विकास की परम्परा थी । "

एक मोह भंग यह भी हुआ कि प्राचीनता की प्रतिमा ही खण्डित हो गयी और नवीन प्रतिमाओं के निर्माण में प्राचीनता के भीतर से नवीनता को अन्वेषित किया गया । स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व का काल रूढ़ियों के टूटने के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है । राष्ट्रीय सांस्कृतिक आन्दोलन के प्रति जागरूक सभी लेखक सामंतों की श्रृंगार-भाषा ब्रजभाषा से मुक्ति पाकर खड़ी बोली पर आ गये थे और अंतत: यही मानव मुक्ति की भाषा बनी । बदली हुई संवेदना पुरानी भाषा में अभिव्यक्ति पाने में असमर्थ थी ।

---

x रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय पृ0 539

xx आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 30

xxx आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 430

xxxx सच्चिदानन्द वात्सयायन- हिन्दी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य निबन्ध- साहित्यिक प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ0 3।

युगीन चेतना की महत्वपूर्ण रचनात्मक प्रवृत्ति एक विशिष्टतामूलक सामाजिक चेतना भी थी । यह कहना कदाचित् अप्रासांगिक नहीं होगा कि बीसवीं शती के आरम्भ में सामाजिक सुधार और परिवर्तन की प्रवृत्तियां जितनी तीव्र थीं, उतनी बाद के राजनीतिक संघर्ष युग में नहीं रहीं । x सामाजिक चेतना ने सांस्कृतिक चेतना को प्रकट किया तथा राजनीतिक चेतना भी इसी का एक अंग है । यह भाषा सम्बन्धी चेतना का भी काल है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जन मानस की अभिव्यक्ति की भाषा के रूप में जो कार्य किया, उसके बारे में नंद दुलारे वाजपेयी ने लिखा-"नये विचार और नयी भाषा-नया शरीर और नयी पोशाक दोनों ही नयी हिन्दी को द्विवेदीजी की देन है । इसी कारण वे नयी हिन्दी के प्रथम और युग प्रवर्त्तक आचार्य माने जाते हैं । साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व इतिहास की शक्तियों ने कदाचित् पहली बार रखा था ..... । xx

हिन्दी अपनी मूल परम्परा में ही जन विद्रोह, जन विश्वास, जन चेतना और जनहित की भाषा रही है । उसके निर्माण एवं संस्कार में द्विवेदी युग के पश्चात् छायावाद के कवि एवं नाटककारों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया । भाषा सम्बन्धी जागृति का काल छायावाद अपनी ग्रहणशीलता और निर्माणशीलता में अद्भुत भूमिका प्रस्तुत करता है । इस पुनरूत्थानवादी युग की सम्पूर्ण चेतना ने प्रसाद जैसे व्यक्तित्व को जन्म दिया । कंकाल एवं तितली में यथार्थवाद के संकेत हैं तथा उनके नाटक एवं काव्य प्रतिभानों की एक विशेष अवस्था में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि के सर्वोपरि विजय चिन्ह हैं । कहना न होगा कि राजनीतिक क्षेत्र में जो काम गांधीवाद कर रहा था, साहित्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में वही छायावाद कर रहा था । प्रसाद के नाटकों के रंग पक्ष की दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए डॉ0 गिरिश रस्तोगी ने लिखा है-"निर्देशक, समीक्षक और पाठक के रूप में मेरी यह निश्चित धारणा है कि प्रसाद की नाट्य प्रस्तुति में चरित्र को प्रधानता दी जानी चाहिए, रंगशिल्प को नहीं ।" xxx

॥भारतेन्दु युग वाली सामग्री॥

भारतेन्दु युग:- भारतेन्दु बाबू का आगमन हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में एक युगान्तकारी घटना है । यह ऐसा युग था जब नाटक से तात्पर्य खेल-तमाशा आदि से लिया जाता था । पारसी रंगमंच का ध्येय मनोरंजन करना था । नवाबी रंगमंच का रहस्य शाही महलों के भीतर की रंगरेलियों तक ही सीमित था । नाट्यकला की सामाजिक स्थिति भी सामान्य न थी । भारतेन्दु ने नाट्य लेखन तथा प्रदर्शन की नवीन परम्परा को प्रारम्भ करते हुए हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में एक नवीन सार्थक नाट्यान्दोलन को जन्म दिया ।

नवाबी रंगमंच की सर्वोत्तम रचना "अमानत" की इन्दर सभा ॥गीत नाट्य॥ का रंगमंचीय इतिहास में विशेष महत्व है । इसे पर्याप्त प्रसिद्धि मिली तथा यह माना जाता है कि "इन्दर सभा" के अभिनय के लिए पहला हिन्दी रंगमंच कैसर बाग में बना जिसमें लखनऊ के "रंगीले मियां" वाजिद अलीशाह ने स्वयं अभिनय किया । x भारतेन्दु ने इसे भ्रष्ट नाटक माना । कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह xx लक्ष्मीकान्त वर्मा xxx आदि ने भी इसके स्तर की कटु आलोचना की है, किन्तु इस नवाबी रंगमंच ने स्वयं भारतेन्दु के कुछ नाटकों को प्रभावित किया था । डा0 गोपीनाथ तिवारी ने "इन्दर सभा" तथा भारतेन्दु की "चन्द्रावली" नाटिका की तुलना करते हुए लिखा है-"इन्दर सभा" की जोगिन की आँखें "भये इश्क से लाल" हैं तो चन्द्रावली की जोगिन की आँखें प्रेम खुमारी से लाल हैं । "इन्दर सभा" का छन्द "गजल" भारतेन्दुजी के नाटकों, नीलदेवी, भारत दुर्दशा में प्राप्त होता है । यह प्रभाव पारसी थियेट्रिकल नाटकों तथा "इन्दर सभा" का ही कहा जा सकता है । xxxx

भारतेन्दु साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति तत्कालीन देश तथा समाज है । देशव्यापी क्रान्तिकारिता, जागरण तथा व्यवस्था के प्रति विद्रोह की प्रवृत्तियों की

---

x श्री गजानन शर्मा निबन्ध- हिन्दी रंगमंच की नई दिशाएं "कल्पना" सितम्बर, 1954

xx हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 39

xxx

प्रतिछाया तद्‌युगीन रंगमंच में व्यंजित होती है । भारतेन्दु उच्च कोटि के अभिनेता एवं निर्देशक थे । समकालीन नाटक से परिचित होने के साथ ही भारतेन्दु नाटक की प्रभाव-क्षमता से भी परिचित थे । अतः नाट्य को उन्होंने युगधर्म की शिक्षा का माध्यम बनाया । "नाटक" नामक पुस्तक में उन्होंने उल्लेख किया है कि किस प्रकार वह नाचघर में पारसी नाटक शकुन्तला को देखकर क्षुब्ध हुए-काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदत्त नायक दुष्यन्त खेमचेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और "पतली कमर बलखाए" गाने लगा तो डा0 थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं । x

यह समय था जब भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के परिष्कार का संकल्प किया । नाटक की सार्वजनिकता तथा सार्ववर्णिकता को ध्यान में रखते हुए अपने समय में प्राप्त सभी रंगमंचीय प्रवृत्तियों का सामंजस्य कर भारतेन्दु ने नवीन रंगमंच की स्थापना से प्रेक्षक की रुचि को सम्पन्न एवं जागरूक बनाने का कार्य किया । एक प्रकार से उन्होंने लम्बे काल से चली आती हुई रंगमंचीय परम्परा के दुर्भेद्य व्यवधान को स्वयं सेतु बनकर अनेक धरातलों से पाटना और एक नई परम्परा को पाना चाहा । xx

"नाटक" नामक निबन्ध में भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा का प्रथम नाटक "नहुष" को माना है तथा राजा लक्ष्मण सिंह के "शकुन्तला नाटक" को हिन्दी का दूसरा नाटक ।xxx

---

x भारतेन्दु ग्रन्थावली: नाटक पृ0 753

xx डा0 लक्ष्मीनारायण लाल- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ0 40-41

xxx भारतेन्दु नाटकावली, बाबू ब्रजरत्न दास प्रथम भाग नाटक पृ0 753

भारतेन्दु के पिता गिरिधर दास कृत नहुष §सं0 1914§ नाटक नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्य वर्णनाओं को पूरी तरह अस्वीकार करता है । डा0 गोपीनाथ तिवारी के मत से इस नाटक में पूर्वी-पश्चिमी परम्पराओं को मिलाने का प्रथम प्रयास हुआ है । x

राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा गद्य में अनुदित "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इसने भावी हिन्दी गद्य के संकेत दिये । स्वयं भारतेन्दु इस गद्य से प्रभावित हुए । xx विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ । xxx

भारतेन्दु युग आधुनिकता का प्रवेश द्वार है । पुनर्जागरण के इस युग में नये विषयों तथा नवीन नाट्य शैली की खोज समय तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गई । नाट्यधर्मी रंगमंचीय परम्पराएं बलवन्तर रूप में यहां दृष्टिगत होती हैं । भारतेन्दु के नाटकों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक दृष्टि की विशेष प्रतिष्ठा हुई । साहित्य को नवीन मार्ग पर प्रेरित करने के लिए भारतेन्दु ने देश-विदेश के साहित्य से अपनी दृष्टि निर्मित की तथा जन जागरण की चेतना से सम्पन्न साहित्य का सूत्रपात किया । भारतेन्दु के लिए परम्परा से लिपट कर जीना न तो सम्भव ही था और न उनकी प्रतिभा के अनुकूल ही । xxxx अत: प्राचीन नाट्य परम्परा को उन्होंने उतने ही अंशों में ग्रहण किया, जितने अंशों में वह उपयुक्त एवं नवीन भावबोध को व्यक्त करने में सक्षम थी । उनके दृष्टि निर्माण में संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी परम्पराओं के साथ लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं ने एक साथ कार्य किया । डा0 राम विलास शर्मा अंग्रेजी प्रभाव स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं । उनकी धारणा है अंग्रेजी प्रभाव का उनके नाट्य साहित्य में कोई स्पष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला । xxxxx वस्तुत: नवीन रंगदृष्टि की सार्थक

---

x गोपीनाथ तिवारी- भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, पृ0 126
xx गोपीनाथ तिवारी- भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, पृ0 126
xxx आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 432
xxxx डा0 राम विलास शर्मा- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ0 144
xxxxx डा0 राम विलास शर्मा- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ0 120

खोज में भारतेन्दु ने एक लम्बी तलाश यात्रा तय की । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसी भी परम्परा का अन्धानुकरण उनमें नहीं है । इसलिए आचार्य शुक्ल भी यह मानते हैं-"भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा । उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया । x

भारतेन्दु ने अपने अनूदित तथा मौलिक नाटकों द्वारा एक साथ ही कई स्तरों पर साहित्य का उद्धार किया ।

परम्परा को नवीन सन्दर्भों में पारिभाषित करने की दृष्टि से पौराणिक नाटकों का सृजन हुआ । यद्यपि पौराणिक विषयों पर नाट्य रचनाएं तथा प्रस्तुति पारसी रंगमंच पर हो चुकी थी तथापि पारसी रंगमंच का योगदान केवल वातावरण निर्माण के क्षेत्र में ही था, क्योंकि भारतीय संस्कृति से पारसी रंगमंच का कोई रागात्मक सम्बन्ध न था । पं0 राधेश्याम कथावाचक अथवा "बेताब" की रंगदृष्टि का निर्माण कम्पनियों के मैनेजर की रूचि तथा इच्छा के अनुकूल ही होता था । अत: यह कथन गलत नहीं कि पारसी थियेटर ने हिन्दू पुराणों की कथाओं को परम्पराहीन रूप में बाजारू बना कर रखा । xx पौराणिक कथाओं को सांस्कृतिक सन्दर्भ में दृष्टिगत कराने तथा साहित्यिक स्तर पर देश की संवेदनाओं को मार्मिक अभिव्यक्ति देने का कार्य प्रथम बार भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने ही किया । पौराणिक नाटकों में विशेष उल्लेखनीय हैं- भारतेन्दु की"चन्द्रावली" नाटिका, "सती प्रताप", "सत्य हरिश्चन्द्र" देवकीनन्दन त्रिपाठी का "नन्दोत्सव", द्विज कृष्णदत्त का "युगल विहार", रघुवर दयाल पाण्डेय का"कृष्णानुराग" विद्याधर त्रिपाठी का "उद्धव वसीठिका", गोवर्धन गोसाई का "उद्धव लीला" नाटक

---

x आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 429

xx लक्ष्मीकांत वर्मा, निबन्ध "हिन्दी रंगमंच" हिन्दी साहित्य तृतीय खण्ड पृ0 472

हरिऔध का "रुक्मिणीहरण" गजराज सिंह का "द्रोपदी वस्त्राहरण", माधव शुक्ल का "महाभारत पूर्वार्द्ध", दामोदर शास्त्री का "रामलीला" "ध्रुव चरित्र", बंदोदीन दीक्षित का "सीता स्वयंवर", देवकी नन्दन त्रिपाठी का "सीताहरण", शालिग्राम वैश्य का "अभिमन्यु" आदि । यह सभी पौराणिक सन्दर्भों में जन जागरण को संकेतित करते हैं । डा० गोपीनाथ तिवारी ने इस काल के पौराणिक नाटकों की विभिन्न धाराओं का विभाजन किया है । x ¦1¦ रामधारा के नाटक ¦2¦ कृष्णधारा के नाटक ¦3¦ महाभारत धारा के नाटक ¦4¦ पतिव्रता स्त्री सम्बन्धी नाटक ¦5¦ भक्तिधारा के नाटक¦6¦ संतधारा के नाटक ¦7¦ अन्य नाटक ।

भारतेन्दु युगीन सभी नाटककारों की मूल दृष्टि रंगमंच पर टिकी है । सुखान्त तथा दु:खान्त दोनों प्रकार का नाट्य सृजन इस समय हुआ । स्वयं भारतेन्दु ने तीन मौलिक सुखान्त नाटकों की रचना की "प्रेम जोगिनी", "चन्द्रावली" तथा "विद्या सुन्दर" । शुक्लजी "विद्या सुन्दर" को अनुवाद मानते हैं । xx डा० सोमनाथ xxx तथा वीरेन्द्र कुमार शुक्ल xxxx इसे रूपान्तरित नाटक कहते हैं । डा० राम विलास शर्मा भी इसे छायानुवाद ही मानते हैं । xxxxx किन्तु डा० गोपीनाथ तिवारी इसे मौलिक नाटक स्वीकार करते हैं । xxxxxx

भारतेन्दु युगीन धार्मिक, सामाजिक नाटकों में संक्रांतिकालीन संघर्षशील जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब मुखरित होता है । विषय वैविध्य के साथ शैली वैविध्य भी यहां विद्यमान है । प्रहसनों में सामाजिक रूढ़ियों, धर्माडम्बरों, पाखण्डियों, रईसों, धूर्तों, पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे शिक्षित नवयुवकों तथा वेश्याओं पर तीखा तथा मार्मिक व्यंग है । प्रहसन के जन्मदाता भारतेन्दु हैं । उनका "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" हिन्दी का प्रथम आधुनिक प्रहसन है ।

---

x डा० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य पृ० 138

xx आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 461

xxx डा० सोमनाथ गुप्ता हिन्दी नाटक का इतिहास पृ० 40

xxxx वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, भारतेन्दु का नाट्य साहित्य पृ० 182

xxxxx डा० राम विलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पृ० 121

जटिल समस्याओं को हास्य व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त करना इस युग की तथा भारतेन्दु स्वयं की प्रमुख विशेषता है । इस प्रकार के नाटकों में भारतेन्दु का अंधेर नगरी, किशोरी लाल गोस्वामी का "चौपट चपेट" आदि प्रमुख स्थान रखते हैं । डा० वासुदेव नन्दन प्रसाद के अनुसार इन प्रहसनों में हास्य की अपेक्षा उपहास की मात्रा बहुत अधिक है । x

देशोद्धार की कामना ने भारतेन्दु युगीन रंगमंच पर राजनीतिक चेतना प्रधान नाटक प्रस्तुत किये । देश प्रेम तथा राष्ट्रीय जागरण की भावना से ओत प्रोत इन नाटकों में "विषस्य विषमौषधम्", "भारत दुर्दशा" "भारत जननी" आदि उल्लेख हैं । अंग्रेजी शासन से असन्तुष्ट नाटककार परिवर्तन के लिए किस प्रकार छटपटा रहे थे, ये इन नाटकों में प्रयुक्त प्रतीकों से सहज ही अनुमानित होता है । भारत दुर्दशा ऐसी ही मन: स्थिति में रचितकृति है ।

भारतेन्दु युगीन नाटककार पाठ्य अथवा दृश्य जिस रूप में भी सम्भव हो सके, अपने नाटकों को जनता तक पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील था । भारतेन्दु ने रंगमंच पर विचार किया नाट्य मण्डली की स्थान की । नाट्य अभिनय तथा निर्देशन किया । अनेकों परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए जीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत कर "अंधेर नगरी" जैसे नाटक की रचना की जो अपने समूचे रूप बन्ध तथा भाषा के साथ मौलिक कृति के रूप में सामने आयी । डा० दशरथ ओझा ने ठीक ही लिखा है-"भारतेन्दु ने परम्परागत भारतीय नाट्य पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्यकला की नई धारा संयुक्त कर दी । xx इसका परिणाम यह हुआ कि नवीन रंगमंचीय आयाम खुल पड़े । इस युग के सभी नाटककार अच्छे, अभिनेता थे । हिन्दी के प्रथम अभिनीत नाटक "जानकी मंगल" ॥सन् 1868॥ में स्वयं भारतेन्दु ने अभिनय किया । शुक्लजी ने लिखा है-"यह अभिनय देखने काशी नरेश महाराज ईश्वरी नारायण सिंहजी पधारे थे । प्रताप नारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिए मूँछे मुड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है ।" xxx

---

x डा० वासुदेव नन्दन प्रसाद, भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच पृ० 195

xx डा० दशरथ ओझा हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास पृ० 288

प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी जैसे प्रतिभाशाली नाट्य लेखक भारतेन्दु की प्रेरणा से रंगमंच क्षेत्र में उतरे । पं0 मदन मोहन मालवीय तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन भी अभिनय के लिए उत्साहित हुए । मालवीयजी ने पं0 बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित हिन्दी नाट्य परिषद् द्वारा अभिनीत शकुन्तला नाटक में अभिनय किया । x

भारतेन्दु काल में संस्कृत, बंगला तथा अनूदित नाटकों का अपना महत्व है । "प्रबोध चन्द्रोदय" के पांच अनुवाद हुए । "मृच्छकटिकम्" तथा "उत्तर रामचरित" के भी पांच अनुवाद हुए । भारतेन्दु ने "रत्नावली", "मुद्राराक्षस" तथा "कर्पूर मंजरी" के अनुवाद किये । "मुद्राराक्षस" का अनुवाद के लिए चयन डा0 राम विलास शर्मा के मत में शृंगारी नाटकों के प्रति भारतेन्दु के असन्तोष का परिचायक है । xx

अंग्रेजी से अनूदित नाटकों में प्रमुख हैं- भारतेन्दु का "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का "दुर्लभ बन्धु" §वंशपुर का महाजन§ नाम से अनुवाद, तोताराम का ओसफ एडीसन के "केटो" नाटक का "केटो वृतान्त" नाम से अनुवाद । इन अनुवादों के प्रभाव से पश्चिमी रंगमंच हिन्दी में आया ।

इस काल में लोकधर्मी परम्परा भी सक्रिय रही । रंगमंच ने लोकधर्मी परम्परा से नवजीवन ग्रहण किया । उस्ताद इंदर ने "सांगीत गोपीचन्द" जिसकी चर्चा राजस्थान के गांव-गांव में हुई । प्रताप नारायण मिश्र ने स्वांग शैली में "सांगीत शाकुन्तला" की रचना की । इसके अतिरिक्त हरीचन्द, गुलफाम, गुलबकावली इत्यादि अनेक स्वांगों की रचना हुई । डा0 गोपीनाथ तिवारी ने लिखा है-"यह स्वांग गीतिबद्ध नाटक ही है ।" अभिनेयता तो इनमें भरी पड़ी है । यह खेलने के लिए ही लिखे गये थे और प्राय: सब खेले भी गये । xxx

---

x कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 235 पादटिप्पणी

xx डा0 राम विलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द पृ0 131

प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी जैसे प्रतिभाशाली नाट्य लेखक भारतेन्दु की प्रेरणा से रंगमंच क्षेत्र में उतरे । पं0 मदन मोहन मालवीय तथा राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन भी अभिनय के लिए उत्साहित हुए । मालवीयजी ने पं0 बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित हिन्दी नाट्य परिषद् द्वारा अभिनीत शकुन्तला नाटक में अभिनय किया । x

भारतेन्दु काल में संस्कृत, बंगला तथा अनूदित नाटकों का अपना महत्व है । "प्रबोध चन्द्रोदय" के पांच अनुवाद हुए । "मृच्छकटिकम्" तथा "उत्तर रामचरित" के भी पांच अनुवाद हुए । भारतेन्दु ने "रत्नावली", "मुद्राराक्षस" तथा "कर्पूर मंजरी" के अनुवाद किये । "मुद्राराक्षस" का अनुवाद के लिए चयन डा0 राम विलास शर्मा के मत में श्रृंगारी नाटकों के प्रति भारतेन्दु के असन्तोष का परिचायक है । xx

अंग्रेजी से अनूदित नाटकों में प्रमुख हैं- भारतेन्दु का "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का "दुर्लभ बन्धु" {वंशपुर का महाजन} नाम से अनुवाद, तोताराम का ओसफ एडीसन के "केटो" नाटक का "केटो वृतान्त" नाम से अनुवाद । इन अनुवादों के प्रभाव से पश्चिमी रंगमंच हिन्दी में आया ।

इस काल में लोकधर्मी परम्परा भी सक्रिय रही । रंगमंच ने लोकधर्मी परम्परा से नवजीवन ग्रहण किया । उस्ताद इंदर ने "सांगीत गोपीचन्द" जिसकी चर्चा राजस्थान के गांव-गांव में हुई । प्रताप नारायण मिश्र ने स्वांग शैली में "सांगीत शाकुन्तला" की रचना की । इसके अतिरिक्त हरीचन्द, गुलफाम, गुलबकावली इत्यादि अनेक स्वांगों की रचना हुई । डा0 गोपीनाथ तिवारी ने लिखा है-"यह स्वांग गीतिबद्ध नाटक ही है ।" अभिनेयता तो इनमें भरी पड़ी है । यह खेलने के लिए ही लिखे गये थे और प्राय: सब खेले भी गये । xxx

---

x कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 235 पादटिप्पणी

xx डा0 राम विलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द पृ0 131

xxx डा0 गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दु नाटक साहित्य पृ0 249

वस्तुत: भारतेन्दु युग में समस्त नाट्य रूपों तथा लोक शैलियों में रचना करके नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी नाटकों तथा परम्पराओं को रंगमंचीय रूप प्रदान किया गया । नाटकों में विद्यमान रंग संकेत तथा मंचीय व्यवस्था, निर्देश इन नाटकों की रंगमंचीयता की कहानी आज भी कह रहे हैं । "भारत दुर्दशा" "भारत जननी" तथा "सत्य हरिश्चन्द्र" में यह संकेत पाद टिप्पणियों के माध्यम से दिये गये हैं । "भारत दुर्दशा" में भारत शिथिल अंग का अभिनय करता हुआ प्रवेश करता है । x वेशभूषा सम्बन्धी रंग संकेत भी बहुतायत में दिये गये हैं । सत्य हरिश्चन्द्र में वेशभूषा के लिए पाद टिप्पणियां भी गई हैं । नदी, वन, पर्वत, सागर, नगर आदि के दृश्यों को रंगमंच पर दिखाने का विशेष विधान है । xx चन्द्रावली में स्थान-स्थान पर परदों के संकेत हैं । प्रकाश सम्बन्धी संकेत भारत जननी में भारतेन्दु ने स्थान-स्थान पर दिये हैं । "सर्राधी" नाटक में रंगमंच में रंगमंच व्यवस्था का विस्तृत वर्णन है । रंग संकेत दो प्रकार के हैं- लघुरंग संकेत तथा दीर्घ रंग संकेत ।

भारतेन्दु युगीन नाटककार रंगमंचीय आयामों के प्रति सजग हैं । वे रंगमंच निर्माण, रंगदीपन, प्रेक्षास्थल आदि की पूर्ण जानकारी देते हैं । बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है-"भाषा जब उन्नतावस्था को प्राप्त होती है, तब नाटक बनता है- नाटक देखने और पढ़ने दोनों में आनन्द आता है । xxx

अपने नाटकों को अभिनय योग्य बनाने के लिए इन नाटककारों ने उन्हें लघु तथा सरल रूप दिया । अंक, दृश्य योजना पर पारसी रंगमंच का प्रभाव अवश्य है, किन्तु यह नाटककार स्वतंत्र दृश्य योजना के लिए छटपटा रहे थे । नवीन दृश्य योजना पर प्रकाश डाते हुए भारतेन्दु ने लिखा है-"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बार-बार दृश्यों के बदलने में है । इसीलिए एक एक अंक में अनेक अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि ऐसे समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा जाता है । xxxx

---

x भारत दुर्दशा अंक 2

xx भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग I पृ0 722

xxx सम्मेलन पत्रिका, 1913, भाग I अंक 5 पृ0 105

यवनिका दृश्यपट तथा नेपथ्य पर भी भारतेन्दु ने विचार प्रगट किये । नेपथ्य को वह आधुनिक "ग्रीन रूम" के रूप में ग्रहण करते हैं तथा यवनिका को ड्रापसीन के अर्थ में नाट्यशास्त्र में वर्णित दृश्य वर्जनाओं की इस युग में अवहेलना की गई ।

डा0 बच्चन सिंह का कथन सारगर्भित है कि भारतेन्दु युग में और उसके बाद भी हिन्दी रंगमंच का जो भी इतिहास है, वह पारसी रंगमंच के प्रति प्रतिक्रिया का इतिहास है । x अनुभव ने इन नाटककारों को पारसी रंगमंच से दूर रहने की सलाह दी थी । डा0 वासुदेव नन्दन प्रसाद ने लिखा है-"भारतेन्दु जी बनारस के नाचघर में, पं0 बालकृष्ण भट्ट प्रयाग के पारसी थियेटरों में, गोपाल राम गहमरी कलकत्ता के एल्फ्रेड थियेटर में, पंडित केशवराम भट्ट पटना में आए एलिफिस्टन थियेटर में पारसी अभिनय के नंगे नाच देख चुके थे ।" xx

अत: यह अव्यावसायिक रंगमंच पारसी थियेटर की सस्ती रंग विधियों का विरोध तथा जनरूचि का परिष्कार कर रहा था । भारतेन्दु के रंगमंच सम्बन्धी प्रगतिशील विचारों ने साहित्यिक नाटक तथा रंगमंचीय नाटकों के कृत्रिम आरोपित विभाजन का समाप्त कर दिया ।

भारतेन्दु ने देश की दुर्दशा को देखकर जन मनोरंजन द्वारा राष्ट्रीय चेतना जगाने एवं समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए नाटकों का सहारा लिया था । इन्होंने रंगमंच की दृष्टि से ही नाटक लिखे थे स्वयं रंगमंच §हिन्दी नाटक मण्डली§ को जन्म दिया था । इसी साधन द्वारा वह नाट्य रचनाओं का परिमार्जित रूप उपस्थित करना चाहते थे । जनता की दूषित मनोवृत्ति के परिष्कार के साथ उनके मन और मस्तिष्क को

---

x डा0 बच्चन सिंह, "हिन्दी नाटक" पृ0 230

xx डा0 वासुदेव नन्दन प्रसाद, भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य और रंगमंच पृ0 254

भी इसी प्रभावोत्पादक साधन से झंझोड़ना चाहते थे । इनके सभी नाटक अभिनीत होने के लिए लिखे गये हैं । भारतेन्दु नाटक लिखते ही नहीं थे, अपितु, x खेलते भी थे । वह सफल कलाकार के साथ-साथ सफल अभिनेता भी थे । इनका रंगमंच पारसी रंगमंच के समान भले ही आडम्बरपूर्ण नहीं होता था, किन्तु उसमें रंगमंच सम्बन्धी सभी आवश्यक सामग्री रहा करती थी । इनके जीवन काल में ही इनके अधिकांश नाटक कई-कई बार अभिनीत हो चुके थे । सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का अभिनय तो अनेक बार हुआ । xx इनके जीवन काल में ही इनके नाटकों का प्रचलन इतना अधिक हो गया था कि उन्हें विवश होकर यह लिखना पड़ा था कि हमारे ही नाटकों को खेलकर दूसरे उत्साहियों के उत्साह को भंग न करना वरन् बीच बीच में उन लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए उन लोगों के बनाए नाटकों का भी अभिनय करना । xxx

भारतेन्दु के प्राय: सभी नाटक अभिनीत होने के लिए ही लिखे गये हैं, इसीलिए आकार की दृष्टि से प्राय: सभी नाटक छोटे-छोटे हैं । रंगमंच का अनिवार्य तत्व दृश्य विधान प्राय: सरल ही है । "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" का दृश्य विधान क्रमश: राजभवन, पूजाघर, राजपथ तथा यमपुरी का है जिसमें विशेष प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं । "नीलदेवी" का रंगमंच विधान क्रमश: हिमगिरि का शिखिर, युद्ध का डेरा, पहाड़ की तराई, सराय, सूर्यदेव का डेरा तथा अमीर की मजलिस आदि हैं । यह विधान अत्यन्त सरल है । कई दृश्य कई दृश्यों के काम आ सकता है । युद्ध के डेरे का दृश्य थोड़ा सा परिवर्तन कर देने पर राजा सूर्यदेव और अब्दुश्शरीफ खां दोनों के लिए उपयोगी हो सकता है । "भारत दुर्दशा", अभिनय की दृष्टि से प्रभावशाली नाटक है । इसका दृश्य विधान क्रमश: वीथी, श्मसान, मैदान, अंग्रेजी ढंग का सजा हुआ कमरा, किताबखाना, गम्भीर वन का मध्य भाग आदि है । इसमें भी विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं । प्रहसनों में अंधेर नगरी का दृश्य विधान सबसे सरल है । इसके छ: छोटे-छोटे

---

x सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में भारतेन्दु स्वयं हरिश्चन्द्र बने थे । नीलदेवी नाटक नाटक में वह पागल की भूमिका में उतरे थे ।

xx जयनाथ नलिन हिन्दी के नाटककार पृ0 59

xxx "सरस्वती" नाटक की प्रस्तावना

दृश्य हैं, जो क्रमानुसार-प्राध्य प्रान्त, बाजार, जंगल, राजसभा, अरण्य तथा श्मशान आदि के हैं । "भारत जननी" में एक ही अंक खण्डहर का दृश्य है । "चन्द्रावली" का दृश्य विधान थोड़ा जटिल है । रंगमंच पर वृक्षादि एवं झूले के दृश्य थोड़ी कठिनता एवं विस्तृत रंगभूमि ही पर दिखाई जा सकते हैं ।

"प्रेम जोगिनी" का दृश्य विधान क्रमश: मंदिर का चौक, गैवीस्थान, मुगलसराय का स्टेशन और पुयुक्षित दीक्षित की बैठक है । यह दृश्य विधान कठिन नहीं है । पात्रों की अधिकता इसमें अवश्य है, परन्तु पहले गर्भांक के पात्र अन्य गर्भांकों में सफलतापूर्वक अनेक बार अभिनय कर सकते हैं ।

<u>अभिनय संकेत</u>- नाटककार के रंग निर्देश को कोष्ठकों में अथवा उसकी पाद टिप्पणियों से अभिनय तथा रंगमंच व्यवस्था सम्बन्धी पर्याप्त सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं ।

<u>वेशभूषा</u>- पात्रों की वेशभूषा विषयक संकेत अभिनय संकेतों के साथ भी दिये गये हैं और पाद टिप्पणियों में भी निर्देश किया गया । यथा- सत्य हरिश्चन्द्र, भारत दुर्दशा और चन्द्रावली की वेशभूषा पाद टिप्पणियों में दी गई है और "प्रेम योगिनी" तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति की वेशभूषा रंग संकेतों के साथ ही दी हुई है । सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में पात्रों की वेशभूषा ऐसी दी गई जिससे वे वास्तविक पात्र लगें । सूत्रधार की वेशभूषा इस प्रकार है- हरे नीले रंग की साटन का कामदार जाँघिया पहने, उसके आगे पटुके की तरह कमरबन्द के दोनों किनारे नीचे ऊपर लटकते हुए, गले में चुस्त मिरजई । ऊपर माला वगैरह और सब गहने, सिर पर पिटारा, पैर में घुंघरू, हाथ में छड़ी, सिर पर मुकुट । "भारत दुर्दशा" प्रतीकात्मक नाटक है इसी कारण इसमें दी गई वेशभूषा भी सांकेतिक है । भारत की वेशभूषा है- फटे कपड़े पहने, सिर पर अर्द्ध किरीट हाथ में टेकने की छड़ी । फटे पुराने वस्त्रों से भारत की गरीबी प्रगट की गई है । अर्द्ध किरिट उसके शेष शक्ति का प्रतीक है । भारत दुर्दैव को आधा क्रिस्तानी और आधा

मुसलमानी वेश और हाथ में नंगी तलवार लिए दिखाया है । यह मिली जुली वेशभूषा यवनों और अंग्रेजों की प्रतीक है । भारत जननी की वेशभूषा रंगसंकेतों में ही इस प्रकार बताई गई है । एक टूटे देवालय की सहन में एक मैली साड़ी पहने बाल खोले भारत जननी निद्रित सी बैठी है, भारत सन्तान इधर उधर सो रहे हैं । वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तथा प्रेम जोगिनी में भी वेशभूषा रंग संकेतों में व्यक्ति के प्रवेश के साथ दी गई है, कहीं कहीं वेशभूषा के साथ नाटककार ने गुण भी दिये हैं यथा-भारत दुर्दैव की वेशभूषा के साथ क्रूर शब्द का प्रयोग किया गया है ।

<u>यवनिका व्यवस्था</u>- भारतेन्दु ने अपने "नाटक" नामक निबन्ध में यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्राचीन काल में चित्रपटी की व्यवस्था होती थी । स्वयं उनके विचारानुसार "चित्रपट" नाटक में प्रयोजनीय वस्तु है और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है । x गोपाल राम गहमरी के यात्रा सम्बन्धी अंश से यह प्रत्यक्षत: ज्ञात हो जाता है कि बलिया में नाट्य प्रदर्शन के समय बजाज के कपड़े टांगकर इन्होंने कमाल कर दिखाया था । वैसे इनके नाटकों के अन्त में भी यवनिका गिरती है- का संकेत मिलता है ।

"चन्द्रावली" नाटिका में यवनिका उठती भी है और गिरती भी है । सत्य हरिश्चन्द्र के चौथे अंक में जब विमान पर बैठी हुई महाविद्याएं आती हैं तो पाद टिप्पणी में नाटककार इसका निर्देश इस प्रकार देता है-"ब्रह्मा, विष्णु, महेश के वेश में परस्त्री का श्रृंगार । खेलने में चित्रपट के द्वारा परदे के ऊपर इनको दिखा लायेंगे और इनकी ओट से बोलने वाला नेपथ्य से बोलेगा ।" इसी प्रकार लेखक अष्ट महासिद्धि नवनिधि और बारह प्रयोग आदि को चित्रपट पर दिखाने का आदेश देता है ।

<u>ध्वनि संकेत</u>- ध्वनि संकेत भी कतिपय स्थलों पर मिलते हैं । चर्चरिका के सम्बन्ध में भारतेन्दु "नाटक" नामक निबन्ध में लिखते हैं-"जब जब एक-एक विषय समाप्त

---

x श्री भारतेन्दु "नाटक" निबन्ध पृ0 16

होगा जवनिका पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे, तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो उसे चर्चरिका कहते हैं। इससे नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का या रागों का बजना योग्य है जैसे- "सत्य हरिश्चन्द्र" में प्रथम अंक की समाप्ति पर जो चर्चरिका बजे वह रात के राग की होनी चाहिए। x इनके नाटकों में गीतों की भरमार है इन गीतों को गाने तक के अभिनात्मक निर्देश दिये गये हैं यथा- राग कौन सा हो और किस ताल §स्वर का आरोह अवरोह§ पर गाया जाए आदि। भारत दुर्दशा में गीत के ऊपर कोष्ठकों में निर्देश इस प्रकार दिये गये हैं- जैसे राग काधी, ताल धमार। भारत दुर्दशा में अन्धकार केपूर्व प्रवेश के समय आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई देता है।

<u>प्रकाश व्यवस्था</u>- इस सम्बन्ध में भी नाटककार ने संकेत दिये हैं। जैसे- "भारत जननी" में इस प्रकार के स्पष्ट निर्देश प्राप्त होते हैं यथा भारत सरस्वती के प्रवेश के समय सफेद चन्द्रजोत छोड़ी जाए, भारत दुर्गा के प्रवेश समय लाल चन्द्रजोत छूटे तथा भारत लक्ष्मी के प्रवेश के समय हरी चन्द्रजोत के प्रकाश का निर्देश दिया गया है। भारत दुर्दशा के चौथे दृश्य में अन्धकार के प्रवेश के समय रंगशाला के दीपों में से अनेक को बुझा देने का संकेत दिया गया है।

<u>मंच व्यवस्था</u>- मंच पर कौन सी वस्तु अनिवार्य है, इसका भी निर्देश नाटककार ने किया है। "नीलदेवी" नाटक के दसवें अंक में मंच पर कौन कौन सी वस्तुएं होंगी और पात्र कैसे बैठेंगे का संकेत इस प्रकार किया गया है-"अमीर गद्दी पर बैठा है, दो चार सेवक खड़े हैं, दो चार मुसाहित बैठे हैं, सामने शराब के प्याले, सुराही, पानदान, इतरदान रखा है, दो गवैये सामने गा रहे हैं, अमीर नशे में झूमता है।" चन्द्रावली के चाथे अंक की मंच व्यवस्था- "खिड़की में से जमुना जी दिखाई पड़ती हैं। पलंग बिछी हुई, पर्दे पड़े हुए।" मंच व्यवस्था के अतिरिक्त इनके नाटकों में नेपथ्य संकेत भी प्राप्त होते हैं। अत:

---

x श्री भारतेन्दु "नाटक" निबन्ध पृ0 17

स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु ने अपने नाटक खेलने के लिए ही लिखे थे। इसीलिए वह अभिनय एवं रंगमंच सम्बन्धी सभी सूचनाएं साथ-साथ देते गये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतेन्दु के अधिकांश नाटक विषय और रचना शैली की दृष्टि से नवीन है। यह अपने युग के स्वयं स्रष्टा तथा आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के प्रमुख कृती थे। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने शब्दों में साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया कि नये बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था वैसे ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ। इसमें सन्देह नहीं। x

भारतेन्दु का अपना भी यही मत था कि युग परिवर्तन के साथ-साथ नाटकों की धारा में भी परिवर्तन आना चाहिए। उन्होंने बंगला, अंग्रेजी तथा संस्कृत की नाट्य शैलियों को अपनाकर नाटकीय प्रयोग किए, किन्तु बंगला नाटककारों के समान अपने नाटकों की रचना में न तो किसी पद्धति का एकान्तिक रूप से अन्धानुकरण किया अथवा सर्वथा परित्याग ही, अपितु अपनी प्रतिभा, विवेचन शक्ति तथा नाटकीय अभिरुचि के आधार पर जनता की रुचि तथा सामयिक स्थिति के अनुरूप स्वच्छन्दता से सबके उपयुक्त एवं अनुकूल तत्वों को ग्रहण कर समन्वित एवं स्वतंत्र प्रणाली का प्रवर्तन कर हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नये मार्ग पर लाकर खड़ा किया। इससे नाट्यकला को विविधता एवं अनेकरूपता प्राप्त हुई। इस नव विकसित नाट्य विधान में पौर्वात्य और पाश्चात्य अथवा प्राचीन और आधुनिक का सामंजस्य स्थापित करते हुए बहुत से अप्रचलित एवं रुचि के प्रतिकूल प्राचीन शास्त्रीय नियमों का परित्याग करने में भी वह

---

x हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 462

हिचकिचाए नहीं और न ही अविचारित ढंग से नवीन को झटपट अंगीकार कर लिया । क्योंकि वे स्वयं मानते थे कि- "नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी । नाट्यकला कौशल दिखलाने को देशकाल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है ।" x

टेकनीक की दृष्टि से इस सामंजस्य में कतिपय त्रुटियां मिलती हैं । वास्तव में यह प्रयोग काल था, विभिन्न नाट्य प्रणालियों अथवा शैलियों को समझने का प्रयास किया जा रहा था । उचित मार्ग की खोज के लिए विभिन्न नाट्य प्रयोग किये जा रहे थे । अन्य अनेक कठिनाइयां भी थीं, यथा सुव्यवस्थित रंगमंच का अभाव था तथा हिन्दी का कोई व्यावहारिक व निश्चित रूप निर्धारित नहीं हो पाया था । पुन: उन्हें कोई राजकीय अथवा सामाजिक सहायता एवं प्रोत्साहन भी प्राप्त नहीं था । xx

ऐसे समय में रचना पद्धति में कहीं-कहीं अस्तव्यस्तता का आ जाना स्वाभाविक था । फिर एकदम शैली में परिपक्वता एवं कला में सौष्ठव की आशा करना दुराशय मात्र है । इसके अतिरिक्त इन प्रयोगों के मूल में विविध प्रेरणाएं कार्य कर रही हैं, यथा:- नाटककार की सुधारवादी मनोवृत्ति का परिचय तो इनमें चित्रित देशकाल और समाज सम्बन्धी सजीव व्यंग्य चित्रों से प्राप्त हो जाता है । राष्ट्रीय जागरण की उष्मा से तो ये रचनाएं आपूरित है हीं । अत: युगीन प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों को दृष्टिविगत करते हुए यह कहना कि वह न तो पूर्णतया भारतीय नाट्यशास्त्र से परिचित थे और नहीं उन्हें यूरोपीय नाट्यशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान था, xxx ठीक नहीं ।

---

x नाटक निबन्ध पृ0 13

xx सर्वप्रथम जब भारतेन्दु के दो नाटक सत्यहरिश्चन्द्र और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति खेले गये थे तो उनके खेलने का विरोध किया गया था और उन विरोधियों में प्रताप नारायण मिश्र जैसे लोग भी थे ।

xxx आचार्य श्यामसुन्दर दास का कथन, भारतेन्दु नाटकावली की भूमिका से उद्धृत

यदि नाट्य रचना सम्बन्धी उनका ज्ञान विस्तृत न होता तो वह अपने "नाटक" नामक निबन्ध में भारतीय नाट्य रचना पद्धति के साथ ही "योरोप में नाटकों का प्रचार" शीर्षक देकर पाश्चात्य शास्त्रीय ज्ञान का परिचय न दे पाते । अनुभव के आधार पर दिये गये कथा पात्र, कथोपकथन सम्बन्धी व्यावहारिक निर्देश आज भी महत्वपूर्ण हैं । पुन: उनके नाट्यशास्त्र के ज्ञान की परख तो उनकी मौलिक नाट्य रचनाओं से भी भली प्रकार हो जाती है । नि:संदेह भारतेन्दु की कृतियों से ही सर्वप्रथम हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का निश्चित रूप सामने आ जाता है । भावपक्ष की दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण जहाँ एक ओर इनसे व्यापक भावभूमि मिली, वहाँ दूसरी ओर शिल्पविधि की मूल विशेषताओं से युक्त रहने के कारण इन नाटकों से हिन्दी नाट्यकला की स्वतंत्र सत्ता उपस्थित हुई ।

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी के जनक कहे जा सकते हैं । हिन्दी गद्य का प्रवर्तन इन्हीं के नाटकों से हुआ ।

भारतेन्दु ने संस्कृत नाटकों को आगे बढ़ाया वहाँ संस्कृत नाट्य पद्धति के विविध रूपों के उदाहरण भी हिन्दी में प्रस्तुत किये । अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद इन्हीं की देन है । आधुनिक हिन्दी में रूपान्तरित परम्परा के आरम्भकर्त्ता भी यही हैं । दस मौलिक नाटक इनकी महत्वपूर्ण देन हैं । हिन्दी में दु:खान्त नाटकों का प्रचलन भी इसी युग पुरुष ने किया । x यथा-"भारत दुर्दशा"और "नीलदेवी" तथा भारत जननी इनके एकांकी हैं ।

रंगमंच पर ही नाटक की सार्थकता है, इस बात को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने रंगमंच को जन्म दिया एवं अभिनेय नाटक प्रदान किए । इनका साहित्यिक स्तर भी काफी उन्नत है ।

---

x कतिपय विद्वान श्रीनिवास दास रचित "रणधीर प्रेममोहिनी" को प्रथम दु:खान्त नाटक मानते हैं । वास्तव में काल क्रम की दृष्टि से भारत दुर्दशा ही प्रथम दु:खान्त रचना ठहरती है ।

॥ख॥ द्विवेदी युग:- भारतेन्दु युग में नाटक की समृद्धि के पश्चात् कुछ समय के लिए हिन्दी नाटक का तेज बुझता हुआ देखकर आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने लिखा-"खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेन्दु के समय में धूम के साथ चली आती हुई नाटकों की यह परम्परा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गयी"। ×बाबू बाल कृष्ण वर्मा बंग भाषा के नाटकों जैसे "वीर नारी", "पद्मावती", "कृष्ण कुमारी" आदि का अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। नाटक के प्रति लेखकों की उदासीनता के शुक्लजी को दो कारण दिखाई दिये।

॥1॥ रुचि सम्पन्न अभिनय शालाओं का अभाव।

॥2॥ उपन्यासों की ओर बढ़ती हुई रुचि।

भारतेन्दु की अल्पायु में मृत्यु का सबसे घातक प्रभाव हिन्दी नाटक एवं रंगमंच पर पड़ा। उनके बाद नाटक के क्षेत्र में वैसी उन्नति नहीं दिखाई पड़ी। बाबू राधाकृष्ण दास के महाराणा प्रताप की कुछ दिनों धूम रही। हिन्दी प्रेमियों के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक मंडलियों ॥जैसे भारतेन्दु नाटक मण्डली॥ के लिए रंगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिख गये, पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। ××

द्विवेदी युग नाट्य साहित्य एवं रंगमंच की दृष्टि से पूर्णतया महत्वहीन नहीं है। इसी समय में बंगला से द्विजेन्द्र लाल राय तथा रवीन्द्रनाथ के अनेक नाटकों के अनुवाद किये गये। इन नाट्यानुवादों का प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पर्याप्त दूरगामी रहा है। भाषा परिवर्तन के इस काल ने नाटक जैसी रम्य एवं रचनातन्त्र की दृष्टि से विशेष टेकनीक प्रधान विधा की ओर उन्हें बढ़ा ही नहीं पाया। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त के नाटक

× आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, "हिन्दी साहित्य का इतिहास"-पृ0 433

×× आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 469

नाटकीयता के अभाव में ख्याति न पा सके । माखनलाल चतुर्वेदी ने इसी काल में "कृष्णार्जुन युद्ध" नामक नाटक लिखा जिसकी रंगमंचीय सफलता बार बार सराही गयी । जबलपुर में"हिन्दी साहित्य सम्मेलन"के अवसर पर इसका अभिनय बहुत ही सफल रहा । x

"नाट्यशास्त्र" नामक पुस्तक में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-अभाग्यवश हिन्दी में दो चार को छोड़कर कोई अच्छे रूप ही नहीं है । नाटक लिखना तो लोगों ने खेल समझ रखा है ! xx

द्विवेदी युगीन नाट्य साहित्य पर सर्वप्रथम गहराई से विचार करने वाले विद्वान कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह का कहना है-"अतएव भारतेन्दु युग की परिसमाप्ति के बाद हिन्दी नाटक की विकासदिशा में जो परिवर्तन लक्षित होता है, उसका सम्यक् श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए ।" xxx

द्विवेदी जी का प्रभाव हिन्दी नाटक साहित्य पर उन्होंने कई रूपों में स्वीकार किया है-

1- आचार्य के आतंक के कारण अनधिकार लेखक हिम्मत हार बैठे, जिसके परिणामस्वरूप उस कूड़े-कचरे की बाढ़ रूक गई जो नाटक साहित्य के नाम पर हिन्दी के कलेवर को मलिन बना रहा था ।

2- मौलिक नाटक रचना की सहज क्षमता वाले इने गिने लोग ही नाटक के क्षेत्र में दृष्टिगत हुए ।

3- हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन रखने वाले लोग संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों के सफल अनुवाद में लग गये । सफल अनुवादों के कारण ही यह काल नाटक के क्षेत्र में "अनुवाद-काल" भी कहलाता है ।

---

x पं0 कृष्णशंकर शुक्ल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 296

xx आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, नाट्यशास्त्र, उपसंहार

xxx कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह, हिन्दी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0335

4- व्यवसायी पारसी रंगमंच की ओर से प्रेक्षकों ने अपने को थोड़ा परान्मुख किया ।

5- पारसी रंगमंच पर अभिनयों में थोड़ा सुधार हुआ । राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों को स्थान मिला जिनकी रचनाओं में हिन्दीपन के साथ भारतीय आचार की मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है । एक प्रकार से भारतीय आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रंगमंच प्रभावित हुआ । x

वस्तुत: द्विवेदी युग का योगदान नाट्य रचना के क्षेत्र में न होकर नाट्य प्रस्तुति के क्षेत्र में अधिक है । हिन्दी रंगमंच के व्यावहारिक पक्ष की सक्रियता का संगठित प्रयास लगातार किया गया । भारतेन्दु के पद-चिन्हों पर चलनेवाली अनेक नाटक मंडलियाँ स्थान स्थान पर सक्रिय हुईं । प्रयाग में "हिन्दी नाट्य समिति" तथा "हिन्दी नाट्य मण्डली", कलकत्ता में "नागरी नाटक मण्डली" तथा "भारतेन्दु नाट्य समाज", वाराणसी की क्वाइन्स ड्रामेटिक क्लब" "जैन नाटक मण्डली", "नागरी नाट्य कला संगीत प्रवर्तक मण्डली" ॥जो बाद में "भारतेन्दु नाटक मण्डली" तथा "नागरी नाटक मण्डली" दो शाखाओं में विभक्त हो गयी॥ द्विवेदी युगीन रंगमंच को हिन्दी नाट्य एवं रंगकला के क्षेत्र में उपयुक्त स्थान प्रदान होना चाहिए । इस काल को नाट्य-साहित्य के इतिहास में निर्ममत्व समझने की भूल के कारण ही हिन्दी नाटक का सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य उभरकर नहीं आ सका ।

इस काल की सबसे बड़ी देन के रूप में पंडित माधव प्रसाद शुक्ल जैसे प्रतिभाशाली उत्साही अभिनेता निर्देशक, लेखक का नाम उल्लेखनीय है । आचार्य शुक्ल ने इनसे प्रभावित होकर लिखा है-"प्रयाग में पंडित शुक्लजी और काशी में पंडित दुर्गवेकरजी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य काव्य की रुचि जगाये रहे ।" xx

---

x कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह, हिन्दी नाटक साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृ0 36।

xx आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 469

॥ग॥ प्रसाद युग:- प्रसादयुगीन नाट्य चेतना उस काल के रंग वातावरण को समझने के लिए उस काल की राष्ट्रीयता तथा नवजागरण की भावनाओं पर गहराई से दृष्टिपात किया जाना चाहिए, क्योंकि शताब्दियों बाद देश के सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण में राष्ट्रीयतावादी भावना का उभार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की इतनी बड़ी घटना है कि इसने जीवन का पुराना नक्शाही बदल दिया । इसी तथ्य को दृष्टिगत करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है-"इस शताब्दी का अध्ययन कोई आसान काम नहीं है । यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है और चूंकि हम उसके इतने नजदीक हैं, इसलिए यह हमें पहले की सदियों की तुलना में ज्यादा बड़ी और धनी मालूम होती है । जब हम इस सदी को गूंथने वाले हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं तो उसकी यह विशालता और उलझन कभी-कभी तो हमें घबड़ा देती है । ••• इस सदी में योरोपीय साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका की छाती पर जमकर बैठ चुका था । " x

इसी काल में विदेशी आक्रांताओं ने भारतीय आत्म गौरव को कुचलने का हर सम्भव प्रयास किया । भारतीय इतिहास को विकृत करने के उनके प्रयत्न अब छिपे नहीं रह गए हैं । समस्त जनता में एक हीन मानसिकता एवं दयनीय दशा का संचार देखकर जागरूक साहित्यकार की दृष्टि भारत के अतीत की ओर गयी । गौरवमय अतीत के उद्घाटन के माध्यम से आत्म गौरव तथा आत्म विश्वास को स्थापित करने का भरपूर प्रयास उन्होंने किया । ऐसा करने के लिए अतीत को आंख मूंदकर अपना लेने के पक्ष में वह न थे, क्योंकि उनके मन में अतीत एवं वर्तमान के समन्वय की भावना थी । अतीत और वर्तमान के बीच जो सम्बन्ध सेतु उड़ गया था, उसे निर्मित करने का कार्य भारतेन्दु से आरम्भ हो गया था और छायावाद युग तक लगातार चलता रहा । प्रसाद ने इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया । युगीन अन्तर्मानसिकता में प्रत्यावर्तन के लिए उनका मन गहरे संघर्ष कर रहा था । यही कारण है कि भारतेन्दु की तरल सामाजिक राष्ट्रीय चेतना प्रसाद साहित्य में प्रबल एवं प्रगाढ़ हो जाती है ।

---

x पं0 जवाहर लाल नेहरू- विश्व इतिहास की झलक, खंड-1, पृ0 565

यह मान्यता उपयुक्त नहीं है कि प्रसादजी ने अपने नाटकों के माध्यम से मात्र अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़े हैं । उनका दृष्टिकोण इतना एकांगी नहीं था । उनके नाटक भारतीय विशिष्टताओं के साथ पाश्चात्य प्रभावों का भी समन्वय करते हैं । भारतीय इतिहास के नव निर्माण की उत्कट लालसा उनके मन में थी । "विशाख" की भूमिका में उन्होंने लिखा है-"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है... क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है । ... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है ।" x

प्रसादजी की धारना है कि पराधीन देश की आत्मा को अतीत के गौरवशाली अंश सुनाकर ही पुनर्जाग्रत किया जा सकता है । राष्ट्र की सुप्त आत्मा को जगाने के लिए ही उन्होंने स्कंदगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक नायकों को आदर्श के रूप में उपस्थित किया । जो देश और जाति के लिए प्राण न्योछावर करने में ही अपने को धन्य समझते हैं । प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों पर रंगमंच की दृष्टि से अनुपयुक्त होने का जो आरोप लगाया जाता था, उसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि आज जब तकनीक की मदद से डायनासोर युग के चित्रों को साकार किया जा सकता है । रामायण महाभारत की कथाओं को रंगमंच पर सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, ऐसे में यह कहना असंगत है कि प्रसाद जी के नाटकों को रंगमंच पर सफलतापूर्वक नहीं प्रस्तुत किया जा सकता । इधर हाल में कई निर्देशकों ने उनके नाटकों की बढ़िया प्रस्तुतियां प्रदर्शित की हैं ।

प्रसादजी की रंगमंचीय अवधारणाओं की अंतरंगता में अवगाहन करने की दृष्टि से "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में संकलित उनके -"रंगमंच", "नाटकों का आरम्भ" "रस तथा नाटकों में रस का प्रयोग" नामक निबन्ध अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है ।

---

x जयशंकर "प्रसाद"- "विशाख" ﾟप्रथम संस्करणﾟ भूमिका ।

प्रसादजी के लिए नाटक अनुकृति मात्र नहीं है । वह एक पूर्ण "विजन" है जिसकी स्वायत्तता और अभिनय दृष्टि की समग्रता केन्द्रीय दृष्टि पर निर्भर करती है न कि इधर उधर बिखरे हुए प्रभावों पर । पाश्चात्य परम्परा के अनुकरण पर वह बहुत ध्यान देते हैं, किन्तु अत्यधिक अनुकरण उन्हें स्वीकार्य नहीं है । ऐसी स्थिति में परम्परा विच्छिन्न होकर हम कहां रहेंगे-अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु को नियंत्रण नहीं करता । x "ठोस"और"अपनी वस्तु" को सही सन्दर्भों में प्रस्तुत करने की दृष्टि से उन्होंने यह भी कहा है-"केवल नयी पश्चिमी प्रेरणाएं हमारी पथ प्रदर्शिका न बन जाएं ।" xx यदि हम पश्चिम का अंधानुकरण करेंगे तो अपनी मूल भारतीय नाट्य परम्पराओं और नाट्य दृष्टि से स्खलित हो जाएंगे । अत: आवश्यकता अपनी प्राचीन गौरवशाली परम्पराओं के नवीन पुनराख्यान की है, जिससे वह अपनी सम सामयिक सार्थकता सिद्ध कर सके । कला का सत्य अत्यधिक अनुकरण से धूमाकुलित हो जाता है और प्राकारांतर से नाट्य विधा की रंगमंचीय प्रक्रिया ही अपनी व्यावर्तक विशिष्टताएं गृहीत नहीं कर पाती ।

परम्परा के भीतर से उपजी आधुनिकता को ध्यान में रखने पर ही प्रसादजी की रंगदृष्टि सही आधारों पर समझी जा सकती है । अपने समय की समस्याओं और प्रेरणाओं से जूझकर ही सही दृष्टि का निर्माण हो सकता है । जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का जो सर्वोत्तम है, अनुसरण करना चाहिए तो हमारी दृष्टि भ्रमपूर्ण हो जाती है । अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए । xxx उनके मत से इस सन्दर्भ में हमें पश्चिमी नाट्य एवं रंगमंच की परम्परा को देखने एवं समझने की अपेक्षा है, क्योंकि पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नये को नहीं पाया है । xxxx पश्चिम के नाटककार अपनी परम्पराओं पर लगातार दृष्टि

---

x जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 105 निबन्ध रंगमंच

xx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 106 निबन्ध रंगमंच

xxx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 167 निबन्ध रंगमंच

xxxx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 106 निबन्ध रंगमंच

रखे हुए हैं, किन्तु ऐसा हिन्दी में हो ही नहीं सका, क्योंकि नाट्य परम्परायें समय-समय पर खण्डित होती रही हैं । हमारा वर्तमान रंगमंच अनेक प्रभावों से ी नर्मित हुआ है क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएं नष्ट हो चुकी थीं । मुगल दरबारों में जो थोड़ी से संगीत पद्धति तानसेन की परम्परा में बच रही थी, उसमें भी बाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगता था । अभिनयों में केवल भाण ही मुगल दरबारों में स्वीकृत हुआ था, वह भी केवल मनोरंजन के लिए । x

आधुनिक काल का व्यावसायिक पारसी रंगमंच भी अनेक प्रकार के पश्चिमी तथा भारतीय प्रभाव लिए हुए था । प्रसाद जी के नाट्य एवं रंग परम्परा सम्बन्धी नियम उनके भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंचों के गम्भीर ज्ञान के परिचायक हैं । भरत कल्पित रंग-मंडप निर्माण विधि से लेकर रंग सज्जात्मक अभिनव, प्रकारों तक फैली हुई पूरी रंग प्रक्रिया "रंगमंच" नामक निबन्ध में है ।

रंगशाला निर्माण विधि की विस्तृत जानकारी देने के लिए पश्चात् वह अभिलेखों में उपलब्ध उन नाट्य मंदिरों का भी उल्लेख करते हैं जो पर्वत गुफाओं को खोद कर मंदिरों के ढंग पर बनते थे । दो खण्डों के बने शैल गुहाकार नाट्य मण्डपों का आकार विमान का सा होता था । अभिनय के लिए काठ के बने रंगमंच रामलीला आदि में प्रयुक्त होते थे जो विमान कहलाते थे । <u>रंगशिल्प विषयक</u> प्रसादजी की जानकारी अपने आप में पूर्ण है । रंगशीर्ष, रंगपीठ मत्तवारणी, यवनिका आदि के बारे में दिये गये उनके मत ठोस आधारों पर स्थित हैं । स्थिर रंगमंच तथा चलते विमान जैसे रंगमंच दोनों अभिनय की आवश्यकतानुसार निर्मित हुए थे । प्राचीन रंगमंच पर किसी प्रकार के दृश्य प्रस्तुत करना असम्भव न था । रंगमंच पर आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के दृश्य भी दिखलाए जाते थे । प्राचीन रंगमंच इतना पूर्ण एवं विस्तृत होता था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ, घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराएं दिखाई जा सकती थीं । xx

---

x जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 102 निबन्ध रंगमंच

xx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 95 निबन्ध रंगमंच

संस्कृत अभिनय पद्धतियों, नृत्य के विविध अंगों- रेचक, अंगहार, करण चारियों तथा पिण्डीबंध अभिनेता की समस्त क्रियाओं की सूक्ष्मता-गति प्रचार {मूवमेन्ट} वस्तु निवेदन {डिलीवरी} सम्भाषण {स्पीच} आदि का विवरण वह वेश-सज्जा में प्रयुक्त सामग्री तथा दृश्य विधान के ढंगों की चर्चा करते हैं । x मुखौटे {रूप} तथा रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्या विभाग तथा उनमें दृश्यों के लिए प्रयुक्त शैल; विमान पान तथा कृत्रिम प्रासाद यंत्र पटों का उल्लेख है । xx

मुस्लिम आक्रमणों के कारण प्राचीन भारतीय रंगमंच के ध्वस्त हो जाने के उपरान्त मंदिरों में शेष लोकनाट्य रूपों का "प्रसाद" जी की दृष्टि में विशेष महत्व है । रंगमंच नामक निबन्ध में उन्होंने नौटंकी, भाण, रामलीला, जात्राओं तथा दक्षिण भारत के कथकलि नृत्य का उल्लेख किया है । नौटंकी को वह प्राचीन राग-काव्य का रूप मानते हैं । xxx उनके मतानुसार ये प्राचीन रागकाव्य ही आजकल की भाषा में गीति नाट्य कहे जाते हैं । xxxx दक्षिण में होने वाले संस्कृत नाटकों के अभिनय का तथा अपने ऊपर उसके प्रभाव को भी प्रसाद ने स्वीकार किया है । संस्कृत नाटकों के प्रति यही दृष्टि प्रसाद के नाट्य सृजन के मूल में निहित है । विभिन्न बाह्य प्रभावों के बावजूद भी उनके नाटकों की अंतश्चेतना पर भारतीयता का गहरा रंग है ।

अपन सम सामयिक रंगमंच पारसी थियेटर की सम्पूर्ण दृष्टि से "प्रसाद" जी असहमत थे । दृश्यों एवं परिस्थितियों के संकलन वस्तु विन्यास की शिथिलता प्रभावोत्पादन के लिए असम्बद्ध फूहड़ भड़ैती से प्रसाद जैसे गम्भीर व्यक्तित्व का समझौता नहीं हो सकता था ।

---

x जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 98-100 निबन्ध रंगमंच

xx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 96-98 निबन्ध रंगमंच

xxx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 102 निबन्ध रंगमंच

xxxx जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 91 निबन्ध नाटकों का आरम्भ

नाटककार प्रसाद के समक्ष सबसे गम्भीर एवं ज्वलंत समस्या व्यावहारिक रंगमंच की रही है । हिन्दी में रंगमंच के अभाव की समस्या का वे स्वयं बहुत अधिक तीव्रता से अनुभव कर रहे थे । इस बात का उन्हें पूरा अहसास था हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है । x

ये कथन स्पष्ट करता है कि प्रसाद जी अनुभव कर रहे थे कि किस प्रकार रंगमंच का अभाव नाट्य रचना के विकास मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बना हुआ है । उन्हें नाट्य एवं रंगकर्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का पूरा पूरा बोध था तथा हिन्दी रंगमंच के समुचित विकास की हार्दिक इच्छा थी । उन्होंने बार-बार संकेतित किया है-रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है । xx अपने समय के रंगसंकट को भोगते हुए वह अपने नाटकों के लिए उपयुक्त रंगमंच की मांग कर रहे थे । बार-बार स्पष्ट कर रहे थे कि उनके नाटक पारसी थियेटर जैसे घटिया रुचिवाले रंगमंच के लिए नहीं हैं और उनके नाटकों के स्वभाव के अनुकूल रंगमंच होने पर ही इन नाटकों का सही सम्प्रेक्षण हो सकेगा ।

प्रसाद की दृष्टि में हिन्दी रंगमंच के नवोदय के समय में ही कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिन्होंने उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया । हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया और फलत: अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया । साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया कि कुरुचि को नेतृत्व करने का सम्पूर्ण अवसर मिल गया है । उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है । xxx

---

x जयशंकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 104 निबन्ध नाटकों का आरम्भ

xx जयशंकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 107-108

xxx जयशंकर प्रसाद काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ0 104

भारतीय रंग परम्पराओं एवं रंग दृष्टियों को पूरी तरह आत्मसात करने के साथ-साथ "प्रसाद" जी की दृष्टि पाश्चात्य रंगमंच पर भी जमी हुई है। पश्चिमी परम्पराओं का उन्हें गम्भीर ज्ञान है। पाश्चात्य रंग-दृष्टियों के विकास, रंग परम्पराओं के परिवर्तन के इतिहास आदि को गहराई से समझने का प्रयास किया है तथा इस बात का ध्यान रखा है कि पश्चिमी विकास से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए, उसका अनुसरण करना चाहिए, किन्तु अंधानुकरण नहीं।

प्रसाद जी भारतीय रंगशिल्प के लिए पश्चिम की प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण के विरोधी नहीं हैं, अपितु उनकी मान्यता यह है कि हमें अपनी परिस्थितियों, परम्पराओं, परिवेश तथा सीमाओं को ध्यान में रखते हुए पश्चिम की प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करना चाहिए-"अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना, साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का नियंत्रण नहीं करता।" x तथा "केवल नयी पश्चिमी प्रेरणाएं हमारी पथ प्रदर्शिका न बन जाएं।" xx यही कारण है कि हिन्दी नाटक में जब धूमधाम के साथ यथार्थवाद की मांग की गयी तो प्रसाद ने डटकर उसका विरोध किया-"हिन्दी के कुछ अकाल पक्व आलोचक जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है, तीन-चार मिनट के लिए काला पर्दा खींचकर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें।" xxx उनकी मान्यता थी कि हिन्दी में अचानक ही यथार्थवाद की नकल आरम्भ कर देना अपरिपक्वता एवं अदूरदर्शिता का सूचक है।

प्रसाद जी के मत से प्राचीन भारतीय लोकधर्मी अभिनय परम्परा तथा नाट्य धर्मी अभिनय परम्परा का सांस्कृतिक धरोहर के रूप में वर्तमान काल में उपयोग होना चाहिए। उनके पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में भारतीय लोकधर्मी एवं नाट्य

---

x जयशंकर "प्रसाद" "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0 105

xx जयशंकर "प्रसाद" "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0 106

xxx जयशंकर "प्रसाद" "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ0 105

धर्मी परम्पराओं का समन्वय किया था जिससे उन्हें नवीन रंगदृष्टि प्राप्त हुई थी, जिसे उनके "सत्य हरिश्चन्द्र", "नीलदेवी", "चन्द्रावली", "भारत दुर्दशा", आदि नाटकों में स्पष्ट देखा जा सकता है-"हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए । x अर्थात् अपनी धरोहर का सार्थक उपयोग करने में हमें भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना चाहिए । ऐसा न करने से प्रसादजी के मत से पथभ्रष्ट होने की सम्भावना है ।

प्रसादजी ने नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों ने कहा कि उनकी भाषा तत्सम शब्दों से युक्त संस्कृतनिष्ठ एवं क्लिष्ट है कि वह मंचोपयुक्त नहीं है । पर उनके नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में यह आक्षेप सही नहीं है । भाषा का निर्धारण नाटककार कथानक की मांग के अनुसार करता है, यदि कथानक जटिल, गम्भीर व ऐतिहासिक है तो उसी के देश-काल को ध्यान में रखते हुए भाषा का निर्धारण होगा। नाटक को चाक्षुष्य यज्ञ कहा गया है । रंगमंच पर भावाभिनय से ही अनेक स्थितियां स्पष्ट हो जाती हैं, जैसे कि कथकलि में मूक अभिनय ही भावों को स्पष्ट करता है । नाटक का मूल बल अभिनय पर ही होता है । अभिनय सुरुचिपूर्ण शब्दों के अर्थ को रंगमंच पर पूरी तरह खोलकर अधिकाधिक स्पष्ट कर सकता है । नाट्य व्यापार की सम्पूर्ण सार्थकता अभिनय पर निर्भर करती है । शब्द गौण हो जाते हैं, अर्थ गतियां तथा उनकी संस्कृतियां प्रमुख हो जाती हैं । अत: सरल अथवा क्लिष्ट भाषा की बात गौण होती है । प्रमुख होती है अभिनयाभिव्यक्ति ।

समग्रत: "प्रसाद" जी की रंगमंचीय अवधारणाओं को वृहत् परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनके मन में नवीन नाट्य शैली एवं रंगमंच की खोज की प्रेरणा बलवती रही है । तत्कालीन पारसी रंगमंच का अन्य प्रभाव ग्रहण करने के बावजूद उन्होंने पारसी थियेटर के समक्ष घुटने नहीं टेक दिए, उन्होंने स्पष्ट शब्दों

---

x आचार्य रामचन्द्र शुक्ल " चिंतामणि" भाग-1, पृ0 230, निबन्ध साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद ।

में कहा कि नाटक रंगमंच के लिए नहीं होने चाहिए बल्कि नाटकों के लिए रंगमंच होना चाहिए । उनके नाटकों के उपयुक्त हिन्दी का रंगमंच न बन पाया । इसमें उनका क्या दोष ?

सम्प्रति नाट्यकर्मी प्रसाद जी की उपर्युक्त स्पष्टोक्ति का सारतत्व समझने लगे हैं, उन्होंने स्वीकार किया है कि प्रसाद जी के नाटक संकुचित यथार्थवादी पश्चिमी ढंग के मंच के लिए नहीं थे । इनके प्रस्तुतीकरण के लिए ऐसे कल्पनाशील निर्देशकों की आवश्यकता है जो हमारी प्राचीन और लोकनाट्य परम्परा को समझकर और वर्तमान मंच-शैली को ग्रहण करके इनका उपयोग कर सकें । "प्रसाद" जी का यह कथन कि उनके नाटकों के लिए "एक नवीन और विशेष मंच की आवश्यकता है" एकदम उचित है । ×

हिन्दी नाट्य लेखन के क्षेत्र में प्रसाद जी के आगमन से हिन्दी नाटक को एक नवीन दिशा मिली थी । भारतेन्दु काल के पश्चात् द्विवेदी युगीन प्रयोगों एवं प्रयासों के बावजूद भी हिन्दी नाट्य के क्षेत्र में एक प्रकार का ठहराव दृष्टिगत होता है । नाट्य सर्जन के क्षेत्र में उस प्रतिभा की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी जो इस ठहराव को तोड़कर नाट्य साहित्य को नवीन गति एवं मूल्य प्रदान कर सके । एक प्रकार से सम्पूर्ण नाट्य चेतना में परिवर्तन एवं परिष्कार की वह स्थिति आवश्यक हो गयी थी जिसमें गम्भीर सृजनात्मकता नई राह पा सके । ऐसे ही कठिन समय में "प्रसाद"जी ने नाट्य क्षेत्र को अपनी उद्दाम एवं अपार प्रतिभा से समृद्ध किया । तद्युगीन परिवेश के अनुकूल "प्रसाद" ने हिन्दी नाटक को एक ठोस एवं व्यावहारिक साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया-"उनके ॥भारतेन्दु॥ पश्चाद् द्विवेदी युग के नाटककारों में प्रेम कथानक को लेकर नाट्य-रचना चलने लगी । नाटक के दो पात्रों की प्रेमलीला का रंगीन किन्तु गतिहीन आख्यान बन गया । दूसरी ओर व्यापारी कम्पनियाँ असाहित्यिक और असांस्कृतिक नाटकों का निर्माण और अभिनय करने में लगी हुई थीं । इस छाये हुए सन्नाटे को दूर

× बलवंत गार्गी, "रंगमंच", पृ० 191

कर पहले-पहल कुछ घटना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में लिखे गये । ये नाटक प्राचीन युग के उत्कर्ष के व्यंजन होने के कारण भाव-प्रधान भी थे । चरित्र न सही कुछ समझदार और सजीव व्यक्तियों का आगमन हिन्दी नाटक साहित्य में होने लगा । कुछ अन्तर्द्वन्द्व या भावुकता प्रधान बंगला नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ । उसी समय "प्रसाद" जी ने नाट्य क्षेत्र में प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएं, नया ऐतिहासिक देश-काल नया आलाप-संलाप-संक्षेप में सम्पूर्ण नया समारंभ दिया ।" x

प्रसाद जी के प्रयासों से नाटक वस्तु एवं शिल्प दोनों ही स्तरों पर गम्भीरता, गहनता एवं सघनता की ओर गतिशील हुआ । उनकी सृजनात्मक प्रतिभा शक्ति ने हिन्दी नाटक के इतिहास में लैण्डमार्क स्थापित किया है । नाटक का नवीन युग वस्तुत: प्रसाद जी से ही आरम्भ होता है । परम्परा की प्रासंगिकता तथा प्राचीन एवं नवीन प्रभावों एवं युग दबावों को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने पाश्चात्य एवं पौर्वात्य नाट्य शैलियों का समाहार करते हुए अपने नाटकों में एक नवीन शैली विकसित की है, जिसमें उनके व्यक्तित्व की मौलिकता सदैव स्पष्टता एवं प्रखरता से लक्षित होती है । "इन्होंने अपने आदर्शों की रचना स्वयं की है । बाहर के विचारों एवं भावों को यों ही अपनानेवाले नहीं हैं । इसमें जो कुछ है, वह मौलिक है, इनका अपना है । इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर प्राच्य तथा पाश्चात्य शैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली थी । उसमें न तो इतनी स्वाभाविकता को स्थान है, जिसमें नीरसता आ जाती है, न पुरानी रूढ़ियों का उतना अनुसरण है जिससे नाटककार की स्वतंत्रता का अपहरण होता है ।" xx

जहां तक प्रसाद जी के नाटकों में पात्र निर्माण या चरित्र-रचना का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि उनके चरित्र नाटक की आधुनिक शर्त-चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व की कसौटी पर खरे उतरते हैं । उनके पात्र जटिल एवं बहुस्तरीय हैं । "वे क्षणभंगुरता

---

x आचार्य नंद दुलारे बाजपेई, "आधुनिक साहित्य", भूमिका, पृ0 39

xx पं0 कृष्ण शंकर शुक्ल, "आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास", पृ0 286

से शाश्वतता की ओर बढ़ते हैं और नित्य के साधारण व्यवहार से पिछले जीवन के गम्भीर रहस्यों को खोलते हैं।" × उनके पात्र स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले हैं, साथ ही वे गम्भीर मानवीय संवेदनाओं के वाहक हैं। उनके अन्तर्द्वन्द्व ने उनमें अधिकाधिक मानवीयता एवं जीवनानुरूपता की सृष्टि की है। उनके द्वारा किए गए आदर्श एवं यथार्थ के मेल ने नवीन नाट्य की सृष्टि की है।

प्रसाद जी के नाटकों की काव्यात्मक गहनता एवं उसमें व्याप्त जीवनगत यथार्थ की सघनता इन नाटकों को क्लासिकीय परम्परा की श्रेष्ठ कृतियां बना देते हैं। उनके नाटकों में व्याख्यात्मक आकर्षण ॥पोयटिक अपील॥ विद्यमान है, जिसे आधुनिक रंगद्रष्टा "नाटक की संप्रेषणीयता" की पहली शर्त मानते हैं। उन्हें नाटक में संगीत की महत्ता का पूर्ण अनुभव है, इसीलिए उनके नाटक गीतों के अपूर्व भंडार हैं। यह गीत ऊपर से आरोपित अथवा "फिट" किये गए नहीं हैं, अपितु वे नाट्य वस्तु के साथ पूर्ण सामंजस्य रखने वाले हैं। वातावरण निर्मिति से लेकर विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों की सूक्ष्म-गहन मानसिकता के अभिव्यक्तिकरण तक का कार्य यह गीत छायावादी सूक्ष्म सौंदर्य बोध तथा शास्त्रीय राग-रागिनियों की श्रुति मधुर तानों के द्वारा करते हैं।

हिन्दी में साहित्यिक नाटकों के घोर संकट के काल में पारसी नाटक के खिलवाड़ में झूलते हुए नाटक को "प्रसाद" ने स्थिर साहित्यिक रूप, सक्षम भाषाशैली, सार्थक जीवनानुभूति, सम्पन्न वस्तु एवं शिल्प एवं नवीन रंगमंचीय दिशा तथा दृष्टि दी है। पारसी नाटकों की पिछली असांस्कृतिक शैली के स्थान पर "प्रसाद" ने गम्भीर साहित्यिक रुचिनिर्माण का प्रयास किया। इस प्रकार उन्होंने जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि पर प्रहार किया। श्रेष्ठ नाट्य कृतियां, कुशल निर्देशक, अभिनेता, अभिनयशाला तथा स्पष्ट रंगदृष्टि सभी के अभाव के उस युग में कहना चाहिए, रंगसंकट के उस समय में विद्रोह का स्वर उठाते हुए "प्रसाद" ने नवीन सार्थक रंगमंच की खोज आरम्भ की। प्रारम्भिक नाटकों की तुलना में उनके "स्कंदगुप्त" "चन्द्रगुप्त", "ध्रुवस्वामिनी" में नाट्य शिल्पगत परिपक्वता दृष्टव्य है। यह इस बात का प्रमाण है कि लेखक में सजीव एवं समर्थ रंगमंच को पाने की छटपटाहट विद्यमान है।

॥घ॥ युगीन प्रसादोत्तर युग:- प्रसादोत्तर हिन्दी रंगमंच का विकास क्रम मात्र 10 वर्षों का है । प्रसाद जी का देहावसान 1937 में हुआ और 1947 में देश को स्वतंत्रता मिली । 1947 के बाद से हिन्दी नाटक में नयी प्रवृत्तियों के लक्षण पूरी तरह दिखने लगते हैं । स्वातंत्र्य पूर्व हिन्दी नाटकों का प्रमुख लक्ष्य था देश की जनता में राष्ट्रीयतावादी चेतना का विकास करना । यह प्रवृत्ति मात्र नाटकों में ही नहीं थी, अपितु हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं वह चाहे निबन्ध ॥बाल मुकुंद गुप्त के॥ हों या उपन्यास ॥प्रेमचन्द के॥ कविताएं हों या कहानियां सभी विधाओं के जरिये यह काम हो रहा था । पारसी थियेटर यद्यपि कि व्यावसायिक रंगमंच था, पर चूंकि उन दिनों के समाज की यह एक प्रमुख मांग थी, इसलिए पारसी थियेटर ने भी स्वातंत्र्य चेतना को विकसित करने वाले बहुत सारे नाटकों का मंचन किया ।

प्रसाद जी के नाटकों में भी अतीत को माध्यम बनाकर उसका स्वर्णिम चित्र दिखाते हुए वर्तमान स्थिति को बदलने का जोरदार आह्वान किया गया । प्रसाद जी के परवर्ती नाटककारों ने भी इस प्रवृत्ति को अपनाए रखा, फिर भी इस काल में हिन्दी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ । यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी यह प्रयास किया था, पर गद्य के उस प्रारम्भिक विकास काल में उनके नाटकों से बड़ी अपेक्षाएं नहीं की जानी चाहिए । भारतेन्दु के बाद प्रसाद को दिशा प्रवर्तक नाटककार स्वीकार किया जाता है, पर उनके नाटकों को मंच नहीं मिला । फिर भी अपनी सांस्कृतिक चेतना, काव्यात्मक परिवेश, नाटकीय संघर्ष की सूझ और चरित्र सर्जन की अपूर्व क्षमता के कारण उनके नाटक अद्वितीय बन गए । अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण इतिहास के अतीत के साथ सम सामयिक जीवन को आदर्श के साथ जोड़कर उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु रोमैंटिक दृष्टि की खामियां उनके साथ लिपटी रहीं ।

प्रसाद जी के सम सामयिक नाटककार भी ॥लक्ष्मी नारायण मिश्र सहित॥ समानियत से मुक्त नहीं हो सके हैं । वस्तुत: उपेन्द्रनाथ अश्क ऐसे पहले नाटककार हैं

जिन्होंने हिन्दी नाटक को रोमांस के कटघरे से निकालकर किसी सीमा तक आधुनिक भाव बोध के साथ जोड़ा । यद्यपि उनका "जय-पराजय" ॥1937॥ प्रसाद की प्रभाव छाया से मुक्त नहीं हो पाया है, फिर भी "छठा बेटा" ॥1940॥ उस प्रभाव से मुक्त है । इसमें पिता-पुत्र के परिवर्तित सम्बन्धों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है । अवकाश प्राप्त पिता को छह बेटों में से कोई भी अपने पास रखने को तैयार नहीं है । जिन पुराने मूल्यों पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध आधारित रहा करता था, वे यहां गायब हैं । यदि कोई सम्बन्ध शेष है तो आर्थिक सम्बन्ध । स्वप्न के माध्यम से जिस आर्थिक सम्बन्ध की स्थापना की जाती है, वह स्वयं में एक छलना है । अश्क के अन्य दो नाटक-"कैद" ॥1945॥ और "उड़ान" ॥1945॥ एक दूसरे के पूरक हैं । प्रतीक का संस्पर्श दोनों में है । पर पहले नाटक का प्रतीक अधिक सटीक और व्यापक है ।

इस काल के कई ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने लिखना तो प्रसाद जी के समय से ही शुरू किया था पर इनका लेखन चौथे से छठे दशक तक चलता रहा । इनमें प्रमुख हैं- उदय शंकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, गोबिन्द बल्लभ पंत, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावन लाल वर्मा आदि । इनके नाटक रंगमंच से पूर्णतया असम्बद्ध है, यह इनमें हिन्दी नाटक का विघटनकारी रूप देखा जा सकता है । वस्तुत: यह लोग उस समय के नाट्य लेखक हैं जब हिन्दी प्रदेश में प्रचलित भला-बुरा पारसी थियेटर भी समाप्त प्राय हो चुका था । इस समय नाटक केवल लिखे गए और प्रकाशित हुए । ये नाटककार दृश्यात्मक परिकल्पना की ओर से पूर्णतया आँखें बन्द किए हुए थे । अत: वे नाट्य वस्तु की उन विशिष्ट नाटकीय स्थितियों को न पकड़ सके जो अपने दृश्य रूप में तीव्र, प्रखर संवेदनात्मक अनुभूति को मूर्तिमान कर सके । रंगमंच से निपट दूरी के कारण इस काल की नाट्य कृतियों की कोई तात्कालिक सार्थकता नहीं रही । नाटक पूर्ण रूप से कृत्रिम एवं यथार्थविहीन हो गया-"देश के किसी भी रंगमंचीय रूप से कोई भी सम्बन्ध न होने के कारण उसका और भी अधिक कृत्रिम और अयथार्थ हो जाना अनिवार्य था । किसी जीवित रंगमंच से सम्पर्क के अभाव में नाटक का एक प्रकार से अवास्तविक भाव विलास,

रूपहीनता और निरर्थकता के दलदल में फंस जाना अस्वाभाविक नहीं ।" x

प्रसादोत्तर युग के प्रमुख नाटककार हैं-"हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, सेठ गोविन्द दास, गोबिन्द बल्लभ पंत, बृन्दावन लाल वर्मा "उग्र", उपेन्द्रनाथ अश्क एवं राम कुमार वर्मा । इन नाटककारों में से अश्क को छोड़कर कोई ऐसा नाटककार नहीं था जिसके नाटक को "प्रसाद" जी के नाटकों की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सके । जो नाटकीय सार्थकता एवं समग्रता "प्रसाद" जी के नाटकों में थी, वह उनके परवर्ती नाटककारों की कृतियों में दिखती नहीं । प्रसाद जी नाटक के रंगमंचीय आयाम के प्रति पूर्णतया सचेत थे । उनके भीतर सतत् द्वन्द्व चल रहा था कि किस प्रकार हिन्दी में नयी रंग चेतना का उदय हो । हिन्दी की तात्कालिक रंगमंचीय स्थिति से वे बहुत त्रस्त थे और उसके सुधार के लिए भरसक प्रयत्नशील भी । दूसरी बात यह कि उनके समक्ष पारसी थियेटर एक निश्चित रूप में गतिशील था । चाहे पारसी थियेटर कितनी ही पतनशील वृत्तियों से पूर्ण क्यों न रहे हों, उनकी प्रदर्शनपरक व्यावहारिकता "प्रसाद" जी के समक्ष थी, नाटक का दृश्यात्मक रूप मौजूद था । किन्तु प्रसादोत्तर नाटकों का अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में कोई ठोस आधार नहीं था । इस प्रकार से प्रदर्शन हेतु रूपायित होने वाले दृश्य काव्य की इस समय कोई तात्कालिक सम्प्रेक्षणीयता एवं सार्थकता न रही थी । नाटक के तीसरे आयाम दर्शक-वर्ग से इस समय के लेखक का जीवन्त सम्पर्क टूट गया था । उसकी उपयोगिता केवल पाठ्य रूप में ही बची थी । परिणाम स्वरूप इस काल के अधिकांश नाटकों में, चाहे वह लक्ष्मी नारायण मिश्र के यथार्थवादी नाटक हों अथवा सेठ गोविन्द दास और हरिकृष्ण प्रेमी के सामाजिक ऐतिहासिक नाटक, नाटककार के विचारों की यांत्रिक एवं सतही संवादात्मकता मात्र शेष है ।

हरिकृष्ण प्रेमी ने मुस्लिम काल के इतिहास को अपने "रक्षा बन्धन", "शिव साधना", "प्रतिशोध", स्वप्नभंग", "आहुति" आदि नाटकों का विषय बनाकर 'भिन्न

---

x नेमिचन्द्र जैन, निबन्ध: "आधुनिक हिन्दी नाटक: प्रतिमान का अन्वेषण", "आलोचना" जुलाई-सितम्बर, 1966 पृ0 89

प्रतीत होती हुई हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को संयुक्त करने का प्रयास किया है ।" x किन्तु इनके नाटकों के पात्र उनके राष्ट्रीय आदर्शों के प्रतिरूप बन गए हैं । उनके ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण एवं कालबोध का सक्षम, पूर्ण सजीव एवं संश्लिष्ट रूप खड़ा कर देने वाली "प्रसाद" जी की क्षमता नहीं दिखती ।

इस काल के दूसरे प्रमुख नाटककार लक्ष्मी नारायण मिश्र हिन्दी नाट्य क्षेत्र में "प्रसाद" के विरुद्ध बुद्धिवाद एवं यथार्थवाद के नारे के साथ प्रवेश किया । उन्होंने पश्चिम के "प्राब्लम प्ले" {समस्या नाटक} को हिन्दी में यथावत् लाने की कोशिश की, किन्तु वे प्राचीन भारतीय संस्कृति का संस्कारगत मोह भी नहीं छोड़ पाये । उनकी इसी प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा="इब्सन, शा, जोला, गांधी, उपनिषद् और अरविन्द के विचार लक्ष्मी नारायण मिश्र के मस्तिष्क में कुछ बेतरतीबी से भर दिए गये हैं ।" xx मिश्रजी के प्रमुख नाटक हैं-"सिंदूर की होली", "मुक्ति का रहस्य", "राक्षस का मंदिर", "सन्यासी", "राजयोग" आदि । किन्तु उनके इन नाटकों में-"प्रसाद" जी से श्रेष्ठ होने के उनके दावों के बावजूद -चिंतन की गम्भीरता एवं गहनता का अभाव दिखता है । मिश्रजी यथार्थवादी नाट्य की ओर तेजी से झपटे तो सही, किन्तु भारतीय जीवन की परिस्थितियों के भीतर से उपजे प्रश्नों का ईमानदारी से निरीक्षण एवं मूल्यांकन कर उनकी तीखी अभिव्यक्ति में समर्थ न हो सके । निजी परिवेश की सघन जीवनानुभूतियां तथा अपनी रंगमंचीय परम्पराओं से वह पूरी तरह कटे हुए थे ही, योरोप की नकल के प्रयास में पथभ्रष्ट भी हो गये-"••वे बदलते हुए भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धों की जांच-पड़ताल करते रहे, किन्तु इस बदलती हुई स्थिति के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर देखने वाली पैनी दृष्टि मिश्रजी के पास

---

x डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक: "उद्भव और विकास", पृ० 293

xx डा० नगेन्द्र, "आधुनिक हिन्दी नाटक", पृ० 55

नहीं थी । इसलिए उनके कथानक बनावटी हैं, स्थितियां अधिकांशतया आरोपित, काल्पनिक और चरित्र निर्जीव, निरे विचार मात्र, ऐसी अंतहीन बहस में लगे हुए, जो लेखक के खोखले थोथे आदर्शवाद के कारण अवास्तविक ही नहीं, एक भंगिमा मात्र लगते हैं ।" x

जिस यथार्थवाद को अपनाने का दावा मिश्रजी अपने नाटकों में कर रहे थे, प्रसाद जी की दूरदृष्टि पहले ही उस पाश्चात्य यथार्थवाद के हिन्दी नाटक में अनुकरण के ऐसे ही भयंकर परिणाम की कल्पना कर रही थे । उन्हें इस बात का पूरा का पूरा अहसास था कि भारतीय परिस्थितियां अभी पश्चिमी यथार्थवादी नाट्यान्दोलन से बहुत पीछे हैं । अतः उन्होंने लिखा है कि "समय की दीर्घ अतिक्रमण करके इब्सनिज्म के पीछे दौड़ने में पदस्खलन का भय है । xx जब वह हिन्दी रंगमंच के कुछ "अकाल-पक्व-आलोचकों" xxx की चर्चा करते हैं तो उनका सीधा संकेत लक्ष्मी नारायण मिश्र सदृश व्यक्तियों की ओर ही है । आज हिन्दी के सभी समझदार रंग चिंतक पश्चिमी यथार्थवादी नाट्य दृष्टि के बारे में प्रसाद के इस मत से सहमत हैं ।

नाट्य रूढ़ियों का विरोध करते हुए प्रसाद जी के विरोध स्वरूप लक्ष्मी नारायण मिश्र ने जिन प्रगतिशील §अपनी समझ में§ तत्वों को अपने नाटक में अपनाने की घोषणा की वे अग्रलिखित हैं:- §1§ भाषागत गद्यात्मकता, §2§ तार्किकता, §3§ गीतों का बहिष्कार, §4§ यथार्थ जीवन को प्रतिभासित करने के लिए यथार्थपरक रंग संकेतों की योजना, §5§ कम दृश्यांतरों की योजना, §6§ परिस्थितियों के घात-प्रतिघात द्वारा पात्र-विकास, §7§ अन्विति त्रय का निर्वाह आदि ।

---

x नेमिचन्द्र जैन, निबन्ध:"प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य", हिन्दी साहित्य तृतीय खंड, पृ० 393

xx आचार्य नंद दुलारे बाजपेई, "नया साहित्य नये प्रश्न "

xxx जयशंकर प्रसाद, "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० 105

किन्तु झूठी तथा अव्यावहारिक सैद्धान्तिकता से प्रयोगात्मकता किस प्रकार छूट जाती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनके नाटकों में पाया जा सकता है । नाटकीय प्रतिभा एवं अनुभूता के नितांत अभाव तथा व्यावहारिक रंगमंच से पूर्णतया असंपृक्त होने के कारण सिद्धान्तों एवं व्यवहार के बीच बहुत बड़ी खाई कैसे उत्पन्न हो जाती है, इसको देखने के लिए मिश्र जी से अच्छा दूसरा उदाहरण हिन्दी नाटक के इतिहास में नहीं मिल सकता । मिश्रजी में दृश्य कल्पना का पूर्ण अभाव है । अन्तर्योजना की व्यवस्था तथा रूप गठन की दृष्टि से शिथिल उनके नाटकों में नाट्य कला के अपेक्षित अंग-भावगत तीव्रता, संयमित बौद्धिकता तथा काव्यात्मक गहनता सभी का अभाव है । कहना न होगा कि एक-एक अंक के भीतर कई-कई दृश्य तथा एक-एक दृश्य के भीतर कई-कई परिवर्तन उनके सभी नाटकों में उपस्थित हैं । एक ही लक्ष्य के भीतर कभी घटना कमरे में घटित है, उसके बाद घर की छत पर, तो फिर उसके बाद घर के बाहर गली में । उनकी भाषा अयथार्थ, गतिहीन, शिथिल, कृत्रिम एवं नाटकीय तनाव से रहित रपटते गद्य की भाषा है। इस भाषा में न तो पश्चिमी यथार्थवादी नाटक की भाषा जैसी निर्मम, प्रखर तीव्रता है न बोलचाल की भाषा का सहज प्रवाह, न ही प्रसाद की भाषा जैसी काव्यात्मक गहनता सम्पन्न गरिमा-"हमारी नाट्य चेतना प्राय: यूरोपीय यथार्थवाद के ह्रासकाल की चेतना है । उसमें जीवन के स्वत: स्फूर्त भाव संकुल, गहन रूप पर नहीं, उसके क्षुद्र कृत्रिम और बाह्य रूप पर प्राय: उसके विकृति प्राप्त घृणित रूप पर- अधिक बल है ।" जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक एक ओर तो काव्य से, काव्यात्मकता से, जीवन की गहन और स्पन्द अनुभूति से विच्छिन्न होकर शुष्कता, निरर्थकता और क्षुद्रता की बंजर भूमि पर जा पड़ा । दूसरी ओर वह छायावादी युग की अशरीरी भावुकता, हवाई कल्पना और शब्द मोह में उलझ गया । हिन्दी के अधिकांश नाटक काल्पनिक चरित्रों, घटना और स्थितियों और उनके अस्वाभाविक भावुकतापूर्ण इच्छित विश्लेषणों से दबे हुए हैं । उनका यथार्थवाद भी अयथार्थ और काल्पनिक है, उनमें यथार्थ की बौद्धिक जागरूकता और कलात्मक निर्ममता की स्पष्टता से देखने और स्थापित कर सकने की क्षमता भी नहीं कि ये आगामी स्तर पर ही सही किसी सत्य का उद्घाटन कर सकें ।" x

---

x नेमिचन्द्र जैन, "रंगदर्शन"-पृ0 30

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है तमाम सदिच्छाओं व घोषणाओं के बावजूद मिश्रजी की यथार्थवादी नाट्यरंग प्रक्रिया अभिनय पक्ष से बिल्कुल विभिन्न तथा प्रस्तुतीकरण की सम्भावनाओं से पूर्णतया दूर है । वस्तुत: प्रसादोत्तर काल के नाटककारों को चाहे वह प्रेमी हो अथवा सेठजी अथवा लक्ष्मी नारायण मिश्र, जीवंत रंगमंच की सृजनशील एवं व्यावहारिक आलोचना से लाभान्वित होने का अवसर ही नहीं मिला । इनके नाटक पुन: सृजित होकर दर्शकवृन्द से सजीव संवाद ही स्थापित न कर पाए । अत: त्रिआयामक नाट्य के दो ही पक्ष यहाँ सामने रह गए-लेखक तथा पाठक । नाट्य-कर्मी तथा प्रेक्षक को भूल जाने के कारण नाटक के विघटन की अभिव्यक्ति के ज्वलंत उदाहरण के रूप में इस काल के नाटक सामने आए । इनका घटना-विन्यास सतही तथा आरोपित है, स्थितियाँ सरलीकृत हैं । नाट्यानुभूति की गहनता, सक्ष्मता एवं काव्या-त्मकता का इनमें अभाव है तथा संवादात्मक इतिवृत्तात्मकता की अनिवार्यता है । हिन्दी में रंगमंच के अभाव के कारण "नाट्य" की निरर्थकता एवं रूपहीनता की अन्तर्विरोध पूर्ण स्थिति के ये नाटक साक्षात् प्रमाण हैं । डा0 लक्ष्मी नारायण लाल का मत इस स्थान पर उद्धरणीय है-"प्रसाद के बाद मिश्र, सेठ, प्रेमी के भाषा प्रयोग में "अभिनेता" और "दर्शक" अपेक्षाकृत गायब हो गए । इनके स्थान पर क्रमश: आ गए परस्पर वाद-विवाद करने वाले स्त्री-पुरूष §चरित्र नहीं§ और पाठक । और ये प्रचारक कवि के स्थान पर तार्किक "वकील" और "बुद्धिवादी लेखक" हो गए । इस सृजन-भूमिका पर जब इन नाटक-कारों ने "इतिहास","पुराण" से कथावस्तु और चरित्र लिए तो अपनी संस्कृति से स्वयं को जोड़ने के लिए "इब्सन", "प्रसाद", "डी0एल0 राय", "पारसी थियेटर", सबको बुद्धि द्वारा बैंधते हुए सीधे ये भरत मुनि तक पहुँचे और अपने नाट्य का सम्बन्ध पूर्वजों से जोड़ने लगे ।" x

चौथे दशक के अंतिम चरण से हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में प्रकाश की दिशा दृष्टिगोचर होती है । पारसी रंगमंच अब पूर्णतया समाप्त हो गया । परिणाम स्वरूप

---

x डा0 लक्ष्मी नारायण लाल, "आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच", पृ0 50

जन जीवन में व्याप्त नाटक के साथ जुड़ी अच्छृंखलता एवं अनैतिकता की भावना का परिष्कार हुआ । नाट्यकला को जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति एवं कलात्मक प्रस्तुति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया । "पृथ्वी थियेटर" ने व्यावसायिक प्रस्तुति का मार्ग खोला तथा "जन नाट्य संघ" नामक अव्यवसायी संस्था की स्थापना हुई । इस प्रकार काफी समय से अवरुद्ध रंगकर्म को अभिव्यक्ति का द्वारा मिला-"देश की स्वतंत्रता के साथ ही हिन्दी के व्यावसायिक रंगमंच ने पहली करवट ली और फिल्मी दुनिया के प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने नाटक कम्पनी खोलकर देश के लगभग सभी बड़े शहरों में नाटक खेले । उनके नाटक व्यावसायिक रूप से सफल भी हुए ।" x यद्यपि ये मंडलियाँ उच्च स्तर के प्रदर्शन तक न पहुँच सकीं, किन्तु ये हिन्दी रंगमंच की कुंभकर्णी नींद को झकझोरने में एक सीमा तक सफल हुईं । नाटककार की दृष्टि रंगमंच एवं नाट्य लेखन के अभिन्न सम्बन्ध के बारे में जागरूक हुई । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 1938 में "हंस" के एकांकी नाटक अंक में यह प्रश्न उठाया गया कि हिन्दी में रंगमंच के अभाव में नाटक कैसे पनप सकता है ? इस प्रकार नाटक अपने मूल आधार रंगमंच पर खड़ा होने लगा ।

उपर्युक्त परिघटनाओं के अतिरिक्त इस काल में जागरूक हिन्दी नाटककार पूरे विश्व रंगमंच के इस सम्पूर्ण दृश्य का सचेत प्रेक्षक बना और हिन्दी में रंग आन्दोलन प्रारम्भ करने की तैयारी में था । श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने हिन्दी नाटकों की- विशेष रूप से रंग नाटकों की कमी का संकेत देते हुए कहा कि हमारी सबसे बड़ी समस्या व्यावसायिक रंगमंच के पुनरुज्जीवन ॥रिवाइवल॥ की है । इस सम्बन्ध में उन्होंने कई सुझाव दिये:-

1- देश के प्रत्येक नगर में आधुनिक साज-सामान से लैस नाटक घर बनाएं जायें ।

---

x उपेन्द्रनाथ "अश्क", निबन्ध: हिन्दी रंगमंच के विकास की समस्या, "आलोचना" पृ0 98 अंक 27, जुलाई, 1963

2- ऐमेच्योर संस्थाओं को अनुदान दिया जाए, जिससे वे अव्यावसायिक ढंग से काम कर सकें ।

3- फिल्म अभिनेताओं से अनुरोध किया जाये कि प्रतिवर्ष एक न एक नाटक में अभिनय करें ।

4- मनोरंजन कर नाटकों के प्रदर्शन पर लागू न किया जाये ।

इन प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न शहरों में रवीन्द्र रंगशालाओं का निर्माण हुआ तथा अनेक नाट्य कम्पनियां सरकार के अनुदान से काम करने लगीं । संगीत-नाटक अकादमी को इस दिशा में निर्देश दिए गये कि वह हिन्दी के प्राचीन और नवीन नाटकों पर विशेष ध्यान दें । तथा ऐसे अभिनेता और निर्देशक सामने लायें जो नाटक और जनता के बीच जीवंत सम्पर्क स्थापित कर सकें, किन्तु इस प्रयास की कोई सफल परिणति नहीं हुई । जिस फूहड़ता एवं अश्लीलता से भारतेन्दु और "प्रसाद" बचाव रखते रहे थे, वही फिर से पृथ्वी थियेटर्स की नकल पर जीवित हो गई । नाटक में ग्लैमर और धमाके होने लगे । रमेश मेहता के नाटक "जमाना", "अण्डर सेक्रेटरी", "जग्गू" आदि पृथ्वी थियेटर की नकल मात्र बन गए ।

{ङ•} <u>आधुनिक युग</u>:- हिन्दी नाटक एवं रंगमंच के क्षेत्र में आधुनिक युग की शुरुआत यूं तो "जन नाट्य संघ" जैसे प्रतिबद्ध संस्थाओं के माध्यम से 1947 के पहले से ही हो गयी थी। इस संस्था के माध्यम से देशी एवं विदेशी भाषाओं के श्रेष्ठ अनुवादित नाटकों का प्रदर्शन होने लगा था। सच पूछा जाये तो जन नाट्य संघ {"इप्टा"} पचास के दशक में एक ऐसे मंच के रूप में सामने आया जिसके माध्यम से भारत की विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ नाटक लेखक और रंगकर्मी काफी हद तक संगठित हो गए। बंगाली, मराठी, कन्नड़, पंजाबी, हिन्दी एवं गुजराती के अनेक श्रेष्ठ नाट्यकारों एवं रंगकर्मियों को हिन्दी रंगमंच के विकास में एकजुट करने का काम "इप्टा" ने बखूबी किया। ए०के० हंगल, बलराज साहनी, दीना पाठक, भीष्म साहनी, ख्वाजा अहमद अब्बास, गीतकार शैलेन्द्र जैसे लोग "इप्टा" की ही देन थे। बाद में भले ही इनमें से कई कलाकार फिल्मों की ओर मुड़ गए। पर हिन्दी नाट्य क्षेत्र में इनके अवदान को नकारा नहीं जा सकता।

पर सच्चे अर्थों में आधुनिक भाव बोध रखने वाली नाट्य चेतना हिन्दी में 1947 के पश्चात् स्वदेशी शासन आ जाने के बाद ही मिली। यदि आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की श्रेष्ठता की दृष्टि से कालावधि तय की जाय तो यह कहा जा सकता है कि जगदीश चन्द्र माथुर के नाटक "कोणार्क" {1951} से लेकर मोहन राकेश के नाटक "आधे अधूरे" {1969} तक का 20 वर्ष का समय हिन्दी नाटक और रंगमंच का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। 1969 के बाद हिन्दी की रंग चेतना क्रमशः क्षीण पड़ने लगी। इन बीस वर्षों के रंग आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका नाट्यकारों व रंगकर्मियों-अभिनेताओं की रही या संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसी सरकारी संस्थाओं की अथवा विभिन्न व्यावसायिक गैर व्यावसायिक नाट्य ग्रुपों की, यह अलग से विश्लेषण का विषय है। पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस बीस वर्ष के बीच की अवधि में लिखे गए व मंचित किए गए अनेक नाटक आज भी मील के पत्थर बने हुए हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में जिन नाटककारों, निर्देशकों, अभिनेताओं ने हिन्दी नाट्य शिल्प को नये आयाम दिए हैं उनमें प्रमुख नाम हैं- मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, धर्मवीर भारती एवं जगदीश चन्द्र माथुर, श्यामा नन्द जालान, हबीब तनवीर, मोहन महर्षि

एम०के० रैना, गिरीश कर्नाड, ओमपुरी, शबाना आजमी एवं नसीरुद्दीन शाह आदि । मोहन राकेश ने अपने प्रारम्भिक नाटकों "अषाढ़ का एक दिन" तथा "लहरों के राजहंस" में ऐतिहासिक कथानकों को पूर्णत: समसामयिक सन्दर्भों से जोड़ दिया । "आषाढ़ का एक दिन" में लेखक व कलाकार के राजाश्रय के औचित्य पर प्रश्न उठाया गया तो "लहरों के राजहंस" में मानव जीवन में श्रेय-प्रेय तथा राग-विराग के बीच होने वाले द्वन्द्व को चित्रित किया गया । तीसरे नाटक आधे-अधूरे में राकेश ने मध्यवर्गीय जीवन की गरजयों-कुंठाओं के फलस्वरूप व्यक्तित्व के आधे-अधूरेपन को अपने नाटक का कथानक बनाया । जहां राकेश के पहले दोनों नाटक रोमांस का पुट लिए हुए हैं वहीं "आधे-अधूरे" में पूर्णत: निर्वैयक्तिक गैर रोमैंटिक दृष्टिकोण अपनाया गया है । श्यामा नन्द जालान के निर्देशन में लेखक के सहयोग व उसकी उपस्थिति में इस नाटक के कई एक प्रदर्शन हुए । स्वतंत्रता पूर्व जहां मराठी व बंगाली रंगमंच व उसके नाटकों की तुलना में हिन्दी नाटकों का मूल्यांकन कम करके किया जाता था, वहीं भारती, राकेश व माथुर के नाट्य लेखन ने हिन्दी नाटक व रंगमंच को गम्भीरता प्रदान की । राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने भी श्रेष्ठ निर्देशकों के निर्देशन में इन नाटककारों के नाटकों की श्रेष्ठ प्रस्तुतियाँ दीं ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में सार्थक कलात्मक रंगमंच का उभार स्वतंत्रता मिलने के ही आया । छठे दशक के शुरू में साहित्य और ललित कला की अकादमियों के साथ-साथ संगीत नाटक अकादमी की भी स्थापना हुई, जिसने 1954 में "राष्ट्रीय नाटक समारोह" और 1956 में राष्ट्रीय नाटक सेमिनार का आयोजन किया, जिसका उद्देश्य देश भर में रंगमंच की स्थितियों को समझना और फिर अलग-अलग क्षेत्रों और स्तरों की जरूरतों के अनुसार उसके नये निर्माण तथा संस्कार करने के उपाय सोचना था । राष्ट्रीय नाटक समारोह में संस्कृत और अंग्रेजी सहित देश की सभी भाषाओं के नाटक प्रस्तुत किए गये थे, और उसी में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर शम्भु मित और इब्राहिम अल्काजी जैसे निर्देशक उभरकर सामने आए थे । राष्ट्रीय नाटक सेमिनार में देश की हर भाषा और क्षेत्र के निर्देशक और नाटककार, अभिनेता, समीक्षक तथा रंगकर्मी सम्मिलित हुए थे । उनके विचार विमर्श में से ही अनेक महत्वपूर्ण बातों के अलावा "राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय" की

स्थापना का विचार पैदा हुआ था । रंगकर्मियों के इन दो ऐतिहासिक जमावड़ों से पैदा होने वाली वैचारिक उथल-पुथल और सृजनात्मक उर्जा ने ही स्वतंत्रता के बाद रंगमंच के क्षेत्र में सांस्कृतिक पुनर्जागरण को गति और दिशा दी ।

स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी नाटक के प्रस्तुतीकरण पक्ष अर्थात् शिल्प पक्ष में पर्याप्त अन्तर पहले के नाटकों की तुलना में देखा जा सकता है । जहां कि भारतेन्दु युग में तत्कालीन पारसी नाटकों की साज-सज्जा का प्रभाव रहा, वहीं प्रसाद युग के नाटकों के सेट निर्माण में उन दिनों की नयी आविष्कृत फिल्मी साज-सज्जा व तकनीक का प्रभाव रंग क्षेत्र में आया । इन परिवर्तनों से बाहरी तड़क-भड़क, साज-सज्जा में जो भी अभिवृद्धि हुई हो, पर नाटकों की प्राणवत्ता-उसका अभिनय पक्ष शिथिल होता गया । पहले सामान्य संसाधनों व साज-सज्जा वाले नाटक भी अपना पूर्ण प्रभाव दर्शकों पर छोड़ते थे और उसे बांधे रखने में सक्षम थे । कलाकार अपने भावाभिनय व संवादों पर मेहनत करते थे । लेकिन आधुनिक नाटकों की नई रंग संरचना दृश्यबंध, लाइट इफेक्ट आदि ने जहां नाटक को तकनीकी सुविधा व उच्चता प्रदान की है, वहीं उसने हिन्दी नाटक की आत्मा उसके अभिनय पक्ष का गला घोंट कर रख दिया है । ऐसा कदाचित् नाटकों के प्रस्तुतीकरण में आए यथार्थवादी आग्रह के कारण ही हुआ है । हमारे नाटककारों की समझ में यह बात नहीं आती कि दर्शक नाटक में "सच" नहीं "झूठ" ही देखने के लिए थियेटर में आता है । "सच" 【जीवन के】 से तो यूं ही वह अहर्निश आक्रांत रहता है । उसी से मुक्ति की आकांक्षा उसे नाटक की ओर खींचती है । जरूरत उस झूठ को कलात्मकता प्रदान करने की है जिससे कि दर्शक के दु:ख और अवसाद का विरेचन किया जा सके ।

भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटकों का अपना कोई निजी रंगमंच नहीं था, सम्भवत: इसी न्यूनता के बोध ने भारतेन्दु को नाट्य लेखन, मंचन एवं अभिनय के लिए प्रेरित किया । उनके नाटकों की विशिष्टता इस बात में है कि जहां एक ओर उन्होंने अपने नाटकों से दर्शकों व पाठकों को तत्कालीन समस्याओं, पिछड़ेपन, सांस्कृतिक व राजनैतिक

परतंत्रता के प्रति हिन्दी भाषी जनता की चेतना को विकसित करने का कार्य लिया। वहीं उन्होंने "अंधेर नगरी" जैसे नाटकों के माध्यम से मनोरंजन व हास्य का सहारा लेते हुए लोगों का ध्यान तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था जैसी गम्भीर समस्याओं की ओर खींचा। भारतेन्दु ने ही सच्चे अर्थों में हिन्दी में नये रंग आन्दोलन की शुरुआत की थी और इसके पर्याप्त कारण भी थे-

पारसी कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत नाटकों का स्तर निरन्तर गिरता गया, उनमें फूहड़पन व अश्लीलता आती गयी। कदाचित इसी ओर लक्ष्य करते हुए निराला ने तत्कालीन पारसी नाटकों के विषय में यह टिप्पणी की-"पारसी कम्पनियों से जो एक्टिंग प्रचलित है, उसका उच्चारण हिन्दी हृदय, हिन्दी जातीयता के बिल्कुल प्रतिकूल है। "पृथ्वीराज" नाटक में मुहम्मद गोरी का ठीक उच्चारण रखा जा सकता है, पर पृथ्वीराज या संग्राम सिंह का कदापि नहीं। स्त्री चरित्र तो वक्तृत्व कला में इतने गिरे होते हैं कि अभिनेत्री सीता का पार्ट कर रही है, यह नहीं सोचती, वह स्वयं क्या है यह दिखाती है। गाने प्राय: सभी स्वरों से मन में हल्कापन पैदा करते हैं। स्वर के भीतर से ऊपर उठने का वहां रास्ता ही बन्द है।" x सम्भवत: इसी स्वरहीनता ने ही प्रसाद जी को भारतीय स्वर्णिम अतीत को प्रकाशित करने वाले ऐतिहासिक नाटकों की रचना के लिए प्रेरित किया।

1956 में आयोजित राष्ट्रीय नाटक सेमिनार में देश की हर भाषा और क्षेत्र के निर्देशक और नाटकार अभिनेता, समीक्षक तथा अन्य रंगकर्मी सम्मिलित हुए थे। उनके विचार विमर्श में से ही अनेक महत्वपूर्ण बातों के अलावा "राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय" की स्थापना का विचार पैदा हुआ था। रंगकर्मियों के इन दो ऐतिहासिक जमावड़ों से पैदा होने वाली वैचारिक उथल-पुथल और सृजनात्मक उर्जा ने ही स्वतंत्रता के बाद रंगमंच

---

x "सुधा" अर्धमासिक, लखनऊ, 1 सितम्बर, 1933 {संपादकीय से}

के क्षेत्र में सांस्कृतिक पुनर्जागरण को गति और दिशा दी । इसके नतीजे छठे दशक के अन्त और सातवें दशक के पूर्व से दिखाई देने लगे और भारतीय रंग जगत में सृजनात्मक प्रतिभा का ज्वार जैसा आ गया । प्रयोग के स्तर पर ये ज्वार शम्भुमित्र, हबीब तनवीर, इब्राहिम अल्काजी, श्यामानन्द जालान, सत्यदेव दूबे, उत्पलदत्त, अरविन्द देशपाण्डे, विजया मेहता, तृप्ति मित्र जैसे सूक्ष्मदर्शी निर्देशक अभिनेताओं की विस्फोटक उपस्थित में दीख पड़ा । इन रंगकर्मियों ने नये नाटकों के अलावा रविन्द्रनाथ ठाकुर, इब्सन, शेक्सपीयर आदि की रचनाओं की अत्यन्त कल्पनाशील प्रस्तुतियां करके भारतीय रंगमंच का नक्शा ही पलट दिया । नाटक का उद्देश्य अब निरा मनोरंजन ही नहीं रहा, बल्कि गहरे और महत्वपूर्ण अर्थों में देश की चेतना की अभिव्यक्ति बना ।

इसी तरह निर्देशकों, रंगशिल्पियों और अभिनेताओं ने रंगकला में अधिक सहजता, स्वाभाविकता, सूक्ष्म सौंदर्य दृष्टि और मन को छूने एवं विचलित करने वाली जीवंतता का समावेश किया । नाट्य प्रदर्शन की भावुकतापूर्ण अतिरंजित अभिनय अथवा दृश्यात्मक चमत्कार का खेल मानने के बजाय अब उसे विभिन्न कलाओं की समन्वित अभिव्यक्ति बनाने के प्रयास हुए । सम्भवत: सदियों बाद इतनी बहुमुखी सृजनात्मक उर्जा भारतीय रंगमंच पर सक्रिय हुई । इस अर्थ में साठ एवं सत्तर के दशक हर प्रकार से रंगमंच में अभूतपूर्व सांस्कृतिक जागरण के दशक थे । साथ के दशक का प्रारम्भ "<u>कोणार्क</u>" §1951§ के प्रकाशन से हुआ । जगदीश चन्द्र माथुर के इस नाटक में हिन्दी नाट्य चेतना की नयी दिशा और सम्भावनाओं के दर्शन हुए । इस नाटक में माथुर ने अतीत के माध्यम से वर्तमान के सम्पूर्ण जीवन्त भाव बोध को सहजता से साकार कर दिया । घटना-विन्यास पात्र तथा नाट्य भाषा के स्तरों और आयामों की अन्वेषणात्मक, क्रियात्मक और संवेतनात्मक स्थितियां उभरती हुई दृष्टिगत हुईं ।

"कोणार्क" में स्थापित सत्ता, शिल्पी और सृजन चेतना की विभिन्न स्थितियों का अन्त:संघर्ष विषय की पूर्ण प्रासंगिकता के साथ प्रकट हुआ है । सृजन कर्म के

प्रेरकस्रोत तथा सृजनशील व्यक्तित्व के तनाव को यह नाटक व्यक्त करता है । एक प्रकार से यह नाटक रंगमंचीय सृजनात्मक सम्भावनाओं से जुड़ा है । इसमें केवल बाहर पुरुष पात्रों की योजना की गई है, स्त्री पात्र एक भी नहीं है । इसके प्रदर्शन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि हिन्दी रंगमंच के समक्ष योग्य अभिनेत्रियों की समस्या है । श्री माथुर को इस बात का गहरा अहसास था कि हिन्दी रंगमंच के शैथिल्य का एक प्रमुख कारण अभिनय योग्य नाटकों का अभाव भी है । इसलिए उन्होंने नाटक की शैलियों, पद्धतियों तथा रंग विधियों को निर्धारित करने का प्रयास किया ।

"कोणार्क" की रचना के समय इस बात का ध्यान रखा गया कि तीन अंक इतने बड़े न हों कि प्रस्तुति में डेढ़ घंटे से अधिक समय लगे । सीने अंधकार में "कोणार्क" के खण्डहर की हल्की सी झलक दिखाई पड़ते ही सम्मिलित वाद्य बजने लगते हैं । नाटक में सूत्रधार पद्य और गद्य दोनों शैलियों का प्रयोग करता है और नेपथ्य स्वर लगाता है । "उपक्रम" और "उपसंहार" §प्रोलोग एण्ड एपीलोग§ के रचना तंत्र तथा संस्कृत नाटकों के उपसंहार औरटिककाव्य तथा आधुनिक रेडियो सिनेमा-रूपक प्रणाली से यह नाटक प्रेरित है ।" x भाषा में कवित्व, भावोष्ण तथा सांस्कृतिक बोध इतना है कि अनायास ही "प्रसाद" का स्मरण हो उठता है । दृश्यात्मकता का काव्यात्मकता के साथ सार्थक सम्बन्ध "प्रसाद" के पश्चात् एक बार पुन: माथुर में स्थापित होता है" । xx मृत परम्पराओं से दूर वैविध्यपरक और जीवंत रंगमंच को यह नाटक काफी अरसे के बाद पुन: गति देता है । कोणार्क के प्रस्तुतीकरणों की सफलता ने हिन्दी रंगमंच को नयी आशा एवं विश्वास प्रदान किया ।

मंचीय सार्थकता एवं नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय प्रस्तुति की दृष्टि से "कोणार्क" एक सफल नाटक सिद्ध हुआ । नाटक के शिल्प में किसी पुराने

---

x आचार्य विनय मोहन शर्मा, निबन्ध: "आलोचना", अप्रैल, 1952 पृ0 105-10

xx आचार्य विनय मोहन शर्मा, निबन्ध: "आलोचना", अप्रैल, 1952 पृ0 105-101

फार्मूले एवं सरलीकरण से बचने का प्रयास भरसक नाटककार ने किया है । विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थितियों में संश्लिष्ट हो उठते हैं । इसमें संघर्ष के कई आयाम उभरते हैं-प्रभुसत्ता और गरीब शिल्पी के बीच का संघर्ष । वस्तुत: "कोणार्क" की रचना एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है; मनोविज्ञान की शब्दावली में यह एक प्रकार का उदात्तीकरण है । शिल्पी विशु की रचना-प्रक्रिया अनेक तरह के अन्त:संघर्षों से प्रेरित है- एक विशेष बिन्दु पर पहुँचकर तो परिवेश का संघर्ष अन्त:संघर्ष से मिलकर इतना उद्वेलनपूर्ण हो उठा है कि रचयिता विशु अपनी रचना का विध्वंस स्वयं कर देता है । इस ध्वंस की व्याख्या करते हुए नाटककार कहता है-"मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष, जो सौंदर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षण में फूट निकला हो ।" x

साठ के दशक की दूसरी महत्वपूर्ण कृति धर्मवीर भारती का काव्य नाटक "अंधायुग" {1955} थी । प्रारम्भ में इस कृति को नयी कविता की कृति के रूप में ही सराहा गया, किन्तु शीघ्र ही इसकी नाट्य परक सामर्थ्य उजागर हो गयी । "अंधायुग" के प्रकाशन से यह प्रतिमान प्रमाणित हो गया कि काव्य तथा नाटक का गहन स्तरों पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । "अंधायुग" में महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभास तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा ली गयी है । इस कथा को चुनने का मूल प्रयोजन युद्धजन्य वर्तमान कालिकता को प्रासंगिकता देना है, किन्तु इसकी उपलब्धि केवल वर्तमानता के कारण नहीं है, बल्कि जब-जब युद्ध होगा ऐसी ही अवसादपूर्ण त्रासद स्थितियां उत्पन्न होंगी और विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में मनुष्य को नये मूल्यों की तलाश करनी होगी । बाह्य संकट से आगे बढ़ने पर जिन आंतरिक संकटों का सामना करना पड़ता है, वे अत्यन्त भयावह होते हैं-इस थीम के नियोजन के अतिरिक्त भारती ने प्रस्तुत गीति नाट्य को जो अनेक आयामी धरातल दिया है और जैसी नाटकीय बिम्बात्मकता

---

x "कोणार्क"- जगदीश चन्द्र माथुर, पृ०-

तथा रचनात्मकता प्रदान की है, वह पूर्ववर्ती नाटकों में सुलभ नहीं है ।

युद्ध के बाद पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं । आस्था अनास्था में बदलती है तथा मूल्य निर्मूल्यता में खो जाते हैं; इसीलिए अंधायुग में बहिर्द्वन्द्व समाप्त होने पर अन्तर्द्वन्द्व की विकराल ज्वाला जगकर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है । चारों ओर कुंठित सत्य के ठूंठ दिखाई देते हैं । उनके स्थान पर उगते हैं- अन्तरतम की चीख, नैराश्य, पीड़ा, निरर्थकता और अकेलापन । लेकिन भारती का उद्देश्य केवल युद्ध की फलश्रुति प्रस्तुत करना नहीं; उनका कहना है-"यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से ।" "अंधायुग" एक सशक्त आधुनिक त्रासदी है; और प्रभु की मृत्यु के बाद तो त्रासद परिवेश और भी गहरा हो जाता है । वस्तुत: "अंधायुग" तनावों का नाटक है, संघर्ष का नहीं; और नाटकीयता तनावों में ही होती है । अश्वत्थामा का अन्त:संघर्ष सहृदय को भी तनावपूर्ण स्थिति में डाल देता है । अश्वत्थामा के व्यथापूर्ण आक्रोश, युयुत्सु की यातना, गांधारी के आवेश, धृतराष्ट्र की आत्मभर्त्सना और संजय की अभिशप्त चीख से घिरकर "अंधायुग" युद्ध जन्य स्थितियों को पूर्णत: नाटकीय बना देता है ।

"अंधायुग" के सफल मंचीय प्रदर्शन ने यह सिद्ध कर दिया कि पारसी शैली अथवा यथार्थवाद से प्रभावित नाट्यकर्मियों की सैद्धान्तिक धारणाओं को रंगमंच पर कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सकता । इस सशक्त नाट्यकृति में समसामयिक जीवन की विभीषिका महाभारत की पृष्ठभूमि में चित्रित है-"विश्व युद्धों की शोषणकारी यातना, तीसरे सर्वनाशी युद्ध की प्राणशोषी आशंका, दलगत एवं राष्ट्रगत स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों की निर्लज्ज प्रवंचना, सामाजिक जीवन से उत्पन्न जीवन की मर्यादाहीन स्थिति, ग्लानि, व्यर्थता बोध आदि का उत्कट संवेदन, विश्व चेतना के स्तर पर उसे सर्वविदित भारतीय पौराणिक सन्दर्भ से युक्त कर सामान्य प्रबुद्ध हिन्दी पाठक को दृश्य काव्य के माध्यम से तीखी अनुभूति करा पाना निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है ।" x

---

x विष्णुकांत शास्त्री, निबन्ध: "हिन्दी का नया नाटक साहित्य", आलोचना पृ० 92 अप्रैल-जुलाई, 1968

"अंधायुग" की मूल कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी आधुनिक युग की समस्याओं, स्थितियों और मानव वृत्तियों से सम्बन्धित है । समसामयिकता का गम्भीर दायित्वपूर्ण निर्वहण कृति के सम्पूर्ण परिवेश में व्याप्त है । युद्ध संस्कृति के विकृत मूल्यों और जर्जरित विश्वासों ने उस गहरे, भावबोध को विकसित किया है जिसमें युग की सम्पूर्ण त्रासदी व्यापक स्तरों पर फैली मिलती है । दृश्य परिवर्तन एवं अंक परिवर्तन के समय कथा गायन की योजना लोक नाटकों की शैली से आयी है । साथ ही यह कथा गायन पद्धति प्रतीकात्मक अर्थों को स्पष्ट करने के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई है । भाव की एकरसता को तोड़ने के लिए छंद के अनेक प्रकार से प्रयोग हैं । प्रहरियों का वार्तालाप कृति के प्रतिपाद्य की मूल संवेदना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ।"

स्थिति की विसंगति और विडम्बना की चुनौती को यह कृति अच्छी तरह स्वीकार करती है । त्रासदी की छाया से रंजित इस नाटक के सम्भवत: सबसे प्रभावशाली चरित्र दो प्रहरी हैं । आत्म-विडंबना से भरे उनके संवाद के अंश "अंधायुग" के मार्मिक प्रसंगों में से एक हैं । महाभारत के सर्वनाश की त्रासदीय पीठिका में प्रहरियों का यह आत्मतुष्ट स्वर अपनी गम्भीरता द्वारा सम्पूर्ण सन्दर्भ को और भी भाव-गम्भीर बना देता है । इस कारण उस त्रासदी की छाया और भी गहरी हो जाती है । x विडम्बना का सृजनात्मक उपयोग, शब्दों की मितव्ययता, भावावेशहीनता, विचारों की तीक्ष्णता, विडम्बना निर्मित जटिलता और गहन अर्थ गर्भित प्रतीकात्मकता में निहित है:

"हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अँधा संशय है लज्जाजनक पराजय है ।" xx

---

x डा0 नामवर सिंह, "कविता के नये प्रतिमान", निबन्ध: विसंगति और विडम्बना", पृ0 173-174

xx "अंधायुग"- पृ0 13

समग्रत: "अंधायुग" युग की आत्मा के सत्य का हस्ताक्षर है जिसमें सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन की सही पहचान विद्यमान है, जिस युग ने अश्वत्थामा और युयुत्सु को पागल कर दिया हो, वह मूल्यांधता का युग "अंधायुग" ही हो सकता है, "मैं यह कहना चाहता हूँ कि कृति की कथा में ऐसी परिस्थितियां और मनोभूमियां स्वयमेव उत्पन्न हुई हैं कि इसी प्रकार की जटन दृष्टि का व्यक्त हो पाना एक आंतरिक मजबूरी ही रही है ! सबके सब त्रस्त, सबके सब असंतुष्ट, सबके सब अंध गुफाओं के वासी, सबके सब संप्रदायवादी, सबके सब परिवेश के प्रति प्रतिबद्ध होकर जीवन जीते हैं ! दर्द का एक तूफान है जो सब में चल रहा है, कोई मूल से उखड़कर बह गया है और कोई झेलता हुआ टकरा रहा है !" x

"अंधायुग" की कथावस्तु पांच अंकों में विभक्त है ! बीच में अंतराल है ! अंतराल के पहले मध्यांतर दिया जा सकता है । लेखक की दी हुई भूमिका में इसके मंचन के लिए सहायक संकेत काफी महत्व के हैं-"मंच-विधान जटिल नहीं है । एक परदा पीछे स्थायी रहेगा, उसके आगे दो परदे रहेंगे, सामने का पर्दा अंक के प्रारम्भ में उठेगा और अंक के अन्त तक उठा रहेगा । उस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं उनमें बीच का परदा उठता-गिरता है ।" xx भारती की यह योजना बहुत कुछ लिपटवां परदों वाली हो, किन्तु उनका विश्वास है कि इसमें वृहत्तर रंगमंचीय सम्भावनाएं हैं-"मूलत: यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था... लिखे जाने के बाद इसका रेडियो रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय और भाषा को मांजने में काफी सहायता मिली । मैंने इस बात को ध्यान में रखा है कि मंच-विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंच वाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है । अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं !" xxx इब्राहीम अल्काजी ने इसका मंचन दिल्ली के पुराने किले के खण्डहरों की पृष्ठभूमि में किया । मुक्ताकाशी रंगमंच पर यह अभिनय एक नवीन सृजनात्मक उपलब्धि बन गया ।

---

x डा0 कृष्णदत्त पालीवाल, "नया सृजन नया बोध", निबन्ध: "अंधायुग: आस्था का स्वर", पृ0 2।

xx डा0 धर्मवीर भारती, "अंधायुग, पृ0 4 निर्देश

नयी नाट्य सम्भावनाओं के कारण "अंधायुग" नाट्य एवं रंगमंच के बीच दोहरे और जटिल सम्बन्ध में निहित भाषागत दृष्टियों तथा अभिनयात्मक वृत्ति से अनेक उपलब्धियां प्रस्तुत करता है । विभिन्न रंग युक्तियों द्वारा निर्वाहित कार्य-व्यापार को अभिव्यक्त करने वाली भाषा में भाव-सघनता, तीव्रता बिम्ब-बहुलता के साथ सहज वार्तालाप का प्रवाह है । कुछ रंग समीक्षकों ने इस पर आक्षेप किये हैं । सुरेश अवस्थी के मत से-"अंधायुग" की वस्तु-योजना और उसके रंग-विधान में एक प्रकार की विसंगति है । उसकी रचना सदियां अपने सहधर्मी रंगमंच की सृष्टि न करके विपरीत रूप-स्वभाव वाले रंगमंच पर आरोपित की गयी है ।" x परन्तु "अंधायुग" के अनेकानेक प्रदर्शन, विभिन्न भाषाओं में इसके प्रस्तुतीकरण इस कृति में निहित सशक्त नाट्य सम्भावनाएं सिद्ध करते हैं ।

"अंधायुग" के बाद साठ के ही दशक की तीसरी महत्वपूर्ण कृति मोहन राकेश का नाटक "आषाढ़ का एक दिन" 1958 में प्रकाशित हुआ । यह नाटक महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणास्त्रोत और उनके चुक जाने से सम्बद्ध है । यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है-परिवेश मूलक संघर्ष और आंतरिक संघर्ष । आषाढ़ के एक दिन इस संघर्ष का आरम्भ हुआ और आषाढ़ के एक ही दिन वह समाप्त हुआ । इन दो दिनों के दीर्घ अंतराल को कालिदास और मल्लिका की पीड़ा ने भरा है-कालिदास में अहं की पीड़ा है, तो मल्लिका में रचनात्मक उत्सर्ग की । कालिदास को रचना की प्रेरणा अपने गांव के परिवेश और वहां की प्रकृति से मिली; और सबसे अधिक प्रभावी स्त्रोत रही मल्लिका । राज्याश्रय प्राप्त होने पर कालिदास की प्रतिभा सूखने लगी, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह वही कालिदास है, जिसका बिम्ब हमारे मन में विद्यमान है ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या रचना में उसी कालिदास का अवतरित होना जरूरी है ? कालिदास के पूर्व निश्चित बिम्ब और इस नव निर्मित बिम्ब में जो विसादृश्य है, उसके फलस्वरूप उसके चरित्र में अन्तर्विरोध दिखाई पड़ने लगता है । इतना महान् साहित्यकार,

---

x डा0 सुरेश अवस्थी, निबन्ध: "नाट्य समीक्षा की भाषा", "आलोचना", पृ0 35 जुलाई-सितम्बर, 1967

जिसे भारतीय संस्कृति और दर्शन का चितेरा माना जाता है, व्यक्तिगत जीवन में कोरा रोमैंटिक, कायर और सैंटीमैंटल होगा; यह विश्वसनीय नहीं लगता ।

कालिदास की रचनाओं से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह इस सीमा तक कायर रहा होगा जो मल्लिका उसे निर्मित करने में स्वयं टूट गयी, उसी को छोड़कर उसने उसकी भावना को व्यर्थ बना दिया । कालिदास और मल्लिका की भावनामयता के विरुद्ध विलोम और मल्लिका की मां रोमांस-विरोधी पात्र हैं । विलोम का व्यक्तित्व तो इतना जबर्दस्त है कि वह कालिदास को विदूषकत्व की स्थिति में ला देता है और इसके बाद वह और भी अनपहचाना लगने लगता है । इसका दायित्व लेखक के अपने विजन पर है । लेकिन जिस कालिदास को उसने अवतरित किया है वह अनेक विरोधी संघर्षों और लयों के फलस्वरूप नाटकीय गत्यात्मकता से पूर्ण है । एक परिवेश से कटकर दूसरे से न जुड़ पाना गहन आंतरिक द्वन्द्व का परिचायक है । स्वयं कालिदास के अपने परिवेश में जिससे वह जुड़ा हुआ है, अन्तर्मंथन का अवकाश कम नहीं है । विलोम और मल्लिका की मां ने अन्तर्द्वन्द्वों को धार दी है । फलस्वरूप नाटक में गहन प्रवेगमयता और तीव्रता आ गई है । खेद है कि इस प्रवेग और तीव्रता को एक रोमानी दु:खात्मकता तक पहुंचा कर समाप्त कर दिया गया है ।

मोहन राकेश का यह नाटक हिन्दी नाट्य के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुआ । सन् 1959 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा हिन्दी नाटक और प्रदर्शन प्रतियोगिताओं में "आषाढ़ का एक दिन" के प्रदर्शन के लिए कलकत्ता की अनामिका मंडली को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए पुरस्कृत किया गया । इस घटना ने हिन्दी रंगमंच एवं नाटक को नया विश्वास एवं नयी चेतना दी । फलत: हिन्दी नाटक और रंगमंच को अधिक सार्थक एवं प्रासंगिक स्तर प्राप्त हुआ । सन् 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना और नाट्य प्रदर्शनों की भाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति ने भी अनेक दृष्टियों से नाट्य एवं

रंगमंच को समृद्ध किया । हिन्दी में मौलिक तथा अनूदित नाट्य प्रदर्शनों की कलात्मक अभिव्यक्ति को नई दिशा दी । श्री नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है-"एक प्रकार से उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीश चन्द्र माथुर ने नाटक में सहज स्वाभाविकता और नाटकीयता से यथार्थपरकता और काव्यात्मकता के जिस मिश्रण का सूत्रपात किया, उसकी महत्वपूर्ण परिणति "आषाढ़ का एक दिन" में हुई है ।" x

इस नाटक की प्रत्यक्ष विषय वस्तु महाकवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित है, किन्तु यह एक प्रकार से प्रेयसी मल्लिका का नाटक है । समर्पित व्यक्तित्व की मल्लिका का कवि से प्रेम ही नहीं करती उसे महाकवि बनाने की कामना भी रखती है । सम्पूर्ण नाटक मल्लिका के त्याग की कहानी है । "आषाढ़ का एक दिन" सुगठित यथार्थ परक नाटक है, जिसमें परिस्थिति के द्वन्द्व को अधिक उभारा गया है । नाटककार की चेष्टा है कि कालिदास का चरित्र किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित कर सके । इसलिए पूरा नाटक अन्तरंग प्रतिबद्धता की समस्या में केन्द्रित हो गया है । भाववस्तु एवं रूपबंध दोनों ही स्तरों पर यह हिन्दी का इतना प्रगाढ़ निबिड़ एवं तीव्र सम्भावना का नाटक है कि निःसंदेह कहा जा सकता है कि ऐसे प्रयोग हिन्दी नाटक के इतिहास में दुर्लभ रहे हैं । शब्दों की अभूतपूर्व मितव्ययिता बिम्बों की नाटकीय सार्थकता, नाटकीय गद्य का चमत्कार और कहीं-कहीं भाषा की नाटकीय काव्यात्मकता आदि सभी ने मिलकर इस कृति को अद्भुत सम्भावनाओं से युक्त संरचना प्रदान की है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस नाटक का मंचन अनेकानेक बार हुआ है । विभिन्न प्रकार की नाट्य मंडलियां इसे अभिनय के लिए चुन चुकी हैं ।

"लहरों के राजहंस" ।1963। मोहन राकेश का रंगमंच की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण नाटक है जिसे पर्याप्त सफलता मिली, पर इस नाटक में "आषाढ़ का एक दिन"

---

x नेमिचन्द्र जैन, निबन्ध: "प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य", "हिन्दी साहित्य", तृतीय खंड पृ0 409

जैसी सघन प्रभावात्मकता नहीं थी । इस नाटक में राग-विराग और श्रेय-प्रेय के द्वन्द्व को उभार कर चिरंतन आध्यात्मिक प्रश्न को नये सन्दर्भ में उठाया गया है । इसका कथानक अश्वघोष के "सौन्दरनन्द" नाटक पर आधारित है । गौतम बुद्ध का सैतेला भाई कपिलवस्तु का राज कुमार नन्द अपनी अनिन्द्य सुंदरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त है । उसका समर्पण अतिशय अहंविरहित और असाधारण रूप से विनीत है-इतना विनीत कि सुन्दरी को सोचना पड़ता है कि काश वह किंचित दुर्विनीत होता । पर बुद्ध के प्रति यानी आध्यात्मिकता के प्रति भी उसका मन आकर्षित है । नाटकीय संघर्ष की स्थितियां इन दो व्यक्तित्वों और दो विरोधी जीवन दर्शनों की टकराहट से उत्पन्न होती हैं । उसकी पत्नी सुंदरी नारी सौंदर्य को आकर्षण का चरम बिन्दु मानती है, किन्तु जब एक दिन नंद ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली तब उसका मुंडित मस्तक देखकर इस सौंदर्य गर्विता का अहं पूर्णत: खंडित हो गया । जहां "आषाढ़ का एक दिन" अपनी भावुकतापूर्ण तीव्रता में समाप्त होता है, वहां लहरों के राजहंस में नंद आधुनिक भावबोध का प्रतिनिधित्व करता है । संशयशील अकेली और अनिर्णीत स्थिति में पड़ा हुआ भी वह एक किरण की तलाश में है ।

"आषाढ़ का एक दिन" की सृजन शक्तियों को "लहरों का राजहंस" और गहराता है । यद्यपि इस नाटक का तीसरा अंक लचर और नाटकीय तीव्रता के ह्रास का संकेत है, फिर भी कथा के माध्यम से आधुनिक मानव के संत्रास यंत्रणा और आन्तरिक संघर्ष की बेचैनी को संप्रेषित करने में लेखक ने पर्याप्त सफलता पायी है । "आषाढ़ का एक दिन" की तुलना में इस नाटक के प्रतीक अधिक व्यापक तथा संघर्ष अधिक तीव्र है, किन्तु रूप बंध के स्तर पर यह नाटक दुर्बल है । इस दुर्बलता का अहसास सम्भवत: स्वयं लेखक को भी था, इसीलिए उन्होंने इसका दोबारा संशोधन भी किया । नाट्य रचना-प्रक्रिया के अध्ययन की दृष्टि से नाटक में किए गए संशोधन का विवेचन विश्लेषण महत्वपूर्ण है । यदि यह कहा जाये कि "लहरों का राजहंस" एक प्रतीकात्मक नाटक है, तो अत्युक्ति न होगी । तीन अंकीय इस नाटक की पूरी कथा प्रतीकात्मक है । नंद और सुंदरी को

केन्द्र में रखकर इस प्रतीकात्मक कथा में द्वन्द्व का सृजन किया गया है । सुंदरी पुरुष को अपने सौंदर्य, यौवन, प्रणय के बंधन से बांधे रखना चाहती है । कामोत्सव का आयोजन उसके इसी विश्वास दर्प और कामना का प्रतीक है । चरित्र भी प्रतीक का काम करते हैं । सुंदरी जीवन के प्रवृत्ति पक्ष का प्रतीक है, बुद्ध निवृत्ति पक्ष का और नंद इन दोनों पक्षों के बीच द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना का । श्यामांक एक प्रतीक पात्र है ही जिसकी कल्पना ही नंद के "अचेतन मन की संकुलता को रेखांकित करने के लिए है । अलका-श्यामांग सम्बन्ध से, नंद-सुंदरी के उद्दाम प्रणय सम्बन्धों से अलग भावात्मक धरातल के प्रेम का संकेत दिया गया है तो नंद के साथ भिक्षु आनंद का आना नंद पर गौतम बुद्ध के प्रभाव को दिखाता है ।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों में मृग और दर्पण के प्रतीकों का बड़ा प्रभावशाली प्रयोग नाटक में हुआ है । नंद में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष और जिजीविषा मृग के प्रसंग से ही दिखाई गई है, लेकिन दूसरे स्तर पर अपनी ही क्लान्ति से मरने वाला मृग सुंदरी का प्रतीक बन जाता है । दर्पण सुंदरी के रूप गर्व का प्रतीक है, और दर्पण का टूटना उस समय के सारे द्वन्द्व और अहंकार के बिखरने का संकेत करता है । सारा प्रसाधन प्रसंग और भिक्षुओं का समवेत स्वर ही प्रतीकात्मक सांकेतिक हो जाता है । नंद की कामभावना का मत्स्याकार आसन-भोगभावना का, झूला चंचल मन का, अलका का स्वप्न उसकी निराशा का, घर पार्थिव मूल्यों का, वास्तविक घर, स्थायी मूल्यों का, जंगल का, जंगल योग का, अंधकूप अवचेतन का, हवा गौतम के सर्वव्यापी प्रभाव का, बिंदी स्त्री जननेंद्रिय का प्रतीक है । प्रतीकों की इस बहुलता से "लहरों का राजहंस" बोझिल होता है और उसकी मूल संवेदना और नाटकीय एकाग्रता में बाधा पड़ती है ।

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण छठे एवं सातवें दशक की अंतिम श्रेष्ठ नाट्यकृति थी "आधे-अधूरे" 〖1969〗 । "आधे-अधूरे" मोहन राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास यात्रा की अगली मंजिल का सूचक है । इसमें
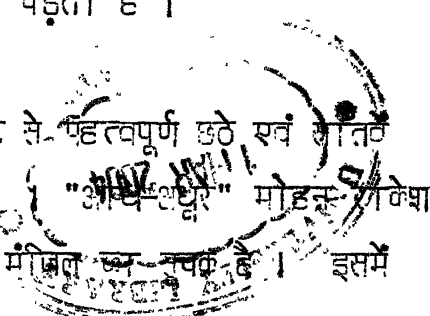
नाटककार ने इतिहास के आधार को छोड़कर समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास किया है । वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडम्बनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रहकर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है । नाटककार ने संत्रास के मूल कारणों की खोज की है । यह विडम्बना आर्थिक-मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की है । प्रत्येक पात्र की नियति वृत्तात्मक है-सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से निकट-दूर आते हुए बाहर जाकर भी वापस लौटने की नियति से बाध्य हैं । इस वृत्तात्मकता के फलस्वरूप नाटक आद्यन्त तनावपूर्ण बना रहा है । यह तनाव राकेश के पिछले नाटकों के तनावों से भिन्न है । पिछले दोनों नाटक बहुत कुछ रोमांटिक हो गए हैं, किन्तु इसमें रोमांस की छुवन भी नहीं है । फिर भी अपने आंतरिक तनावों के कारण सहृदय इसके साथ एक तान बना रहता है । इसकी भाषा और कथोपकथन में अद्भुत संयम है, जो यथार्थ को नाटकीय ढंग से वहन करने में पूर्ण समर्थ है । संवादों की लयात्मकता में बहुत वैविध्य नहीं है; यद्यपि लड़के की वाणी में काट खाने वाला पैना व्यंग्य है । भाषा, लय और नाटकीय संयम तनाव को गहराते जाते हैं ।

"आधे-अधूरे" हिन्दी रंगमंच का बहुचर्चित, बहुत-प्रदर्शित नाटक है, जिसने अपने ढंग से रंगमंचीय क्रान्ति उत्पन्न की है । मध्यवर्गीय समाज की भीतरी विसंगतियों और उनके भीतर संघर्ष करते हुए लोग मात्र अपने आप में अधूरे हैं । इस अधूरेपन को जिस यथार्थपरक तीक्ष्णता से उद्घाटित किया गया है, वह अपने आप में बेजोड़ है । ओम शिवपुरी ने इसका निर्देशन सर्वप्रथम हिन्दी में किया तथा सत्यदेव दुबे ने मराठी में । यह हिन्दी का पहला नाटक है जिसके वर्षों तक लगातार प्रदर्शन हुए हैं । नाटक एवं प्रेक्षक के जीवंत सम्पर्क की धारणा इस नाटक के प्रेक्षण के उपरांत और भी दृढ़तर हो जाती है । भारतीय भाषाओं में "आधे-अधूरे" ने एक प्रकार का तहलका मचा दिया । इस नाटक में नाट्य एवं रंगमंच के नवीन सार्थक मुहाविरे की तलाश है । हिन्दी रंगमंच की नाट्य भाषा सम्बन्धी खोज यहां आकर पूरी होती सी जान पड़ती है । भाषा यहां गहन जीवनानुभूतियों

की सार्थक आभ्यान्तर स्थितियों को साकार करने में समर्थ हुई है । मध्यवर्गीय परिवार के विघटित होते हुए तथा टूटते हुए जीवन मूल्यों की नंगी तस्वीर उपस्थित करनेवाले इस नाटक ने रंगमंच की शक्ति, स्रोत एवं संवेदना को ही निर्मित नहीं दी, अपितु दर्शक की उस रुचि का भी परिष्कार किया, जिसे सिनेमा ने विकृत कर दिया था । नये दर्शक वर्ग के निर्माण के साथ-साथ वह खिड़की भी खुल गया, जो अभी तक बंद था । सैद्धान्तिकता को हिन्दी में पहली बार व्यावहारिक स्तर पर सिद्ध कर दिया गया कि नाटक एक सामूहिक कला है । इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि इस काल के नाट्य जगत के सबसे बड़े जागरण का नाम है-"आधे-अधूरे" ।"

"आधे-अधूरे" में मानवीय व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की तलाश के प्रश्न को अत्यन्त शिद्दत के साथ उठाया गया है । "आधे-अधूरे" का कथानक एक मध्यवर्गीय परिवार के इर्द-गिर्द घूमता है-एक पुरुष महेन्द्रनाथ एक स्त्री सावित्री, लड़का अशोक, बड़ी लड़की बिन्नी और छोटी लड़की किन्नी । पाँच लोगों के इस परिवार में बाहरी व्यक्ति भी आते हैं-सिंघानियां जुनेजा और जगमोहन । आर्थिक समस्या और कुछ आंतरिक कारणों से परिवार विघटन की स्थिति में है । परिणाम स्वरूप घर का हर सदस्य कटुता, झल्लाहट से भरा है । महेन्द्रनाथ आर्थिक रूप से पत्नी पर निर्भर है-दुर्बल, कायर व्यक्तित्वहीन । स्त्री "घर" और "पूरे आदमी" की तलाश में बेचैन, चिड़चिड़ी और पीड़ित है । वह अपने अंदर के अधूरेपन को "घर" और "पूरे आदमी" से भरना चाहती है । अभावजनित मानसिक असंतोष में वह महेन्द्रनाथ से करती जाती है और अलग-अलग अधूरे आदमियों से टकराती है, लेकिन अपनी कल्पना में स्थित पूरे आदमी का आदर्श कहीं नहीं पाती । यह अधूरापन, भटकन, असफलता, घुटन, ऊब उसे और अधिक क्रूर, तीखा, बड़ा ही प्रतिक्रियात्मक, कहीं-कहीं आक्रामक भी बना देता है । अन्तत: उसी स्थिति में जीने को विवश दीखती है, दोनों ही आधे-अधूरे हैं ।

उपर्युक्त कारणों से ही इस नाटक को "जीवंत सार्थक मुहाविरा", "समकालीन जिंदगी का पहला सार्थक हिन्दी नाटक", "आज के जीवन का गहन अनुभव खंड" आदि

कहा गया । कई स्तरों पर यह नाटक कई संकेत करता है- पारिवारिक विघटन, दाम्पत्य सम्बन्धों की कटुता, आपसी रिश्तों की रिक्तता, मानवीय सम्बन्धों का टूटना-बिखरना, आर्थिक विपन्नता का सम्बन्धों पर प्रभाव, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, यौन विकृतियां आदि-आदि और इन सबके साथ व्यापक अर्थ में नाटक मानवीय स्थिति को द्वन्द्व और नियति को, अपूर्णता को दिखाता है । व्यक्ति के मन की पर्तों को खोलने का प्रयोग राकेश ने तीनों नाटकों में किया है, जो नाटकीय दृष्टि से भी उपयोगी है । नाटक का अंत राकेश की नाटक यात्रा में भिन्न होते हुए भी आधे-अधूरे का व्यापक अनुभव नहीं बन पाता । कालिदास और नंद दोनों चले जाते हैं, लेकिन यहां महेन्द्र जाकर पुन: वापस लौट आता है, जो आज के मानवीय जीवन की नियति का संकेत करता है और नाटककार की समसामयिक स्थिति के प्रति समझदारी और ईमानदारी को दिखाता है । लेकिन यूं नाटक का अंत कुछ मेलो ड्रामा सा लगता है और पूरे नाटक को एक मध्यवर्गीय परिवार और सावित्री को मात्र एक महत्वाकांक्षी स्त्री के रूप में सीमित कर देता है । इन बहुत से प्रश्नों के होने पर भी "आधे-अधूरे" मानवीय सम्बन्धों की नयी और सूक्ष्म पहचान कराने का एक रास्ता बनाता है और अपने पैनेपन से, यथार्थ से हिन्दी नाटक को एक नयी दिशा देता है ।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता इसके ठोस जानदार संवाद की सही नाट्य भाषा की खोज, एक तेवर नाटक में आद्यन्त बुना हुआ आक्रोश और आज के जीवन को आज के मुहाविरे में पेश करने की कोशिश है । समकालीन जीवन के तनाव की पकड़ भाषा और संवादों में है-यह नाटक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का तनाव-संघर्ष का, एक सा लय-रचना का नितांत भिन्न नाटक है । इसमें स्थितियों का चित्रण उतना नहीं है जितना स्थितियों में उत्तेजित होते हुए पात्रों की झल्लाहट का । राकेश मूलत: प्रयोग में विश्वास नहीं करते हैं, उन्होंने "आन्तरिक शिल्प" पर ही बल दिया है, लेकिन "आधे-अधूरे" में उन्होंने प्रस्तावना का प्रयोग किया है, जिसमें काले सूटवाला नाटक की भूमिका ही नहीं बनाता, स्वयं राकेश को भी स्पष्ट करता है । राकेश ने एक ही

अभिनेता से पांच भूमिकाएं कराने का प्रयोग इसमें किया है जो नाटकीय अर्थ में भी जुड़ा है- हर आदमी एक जैसा । लेकिन यह प्रयोग भी बहुत सार्थक नहीं माना गया और एक नाटकीय युक्ति बनकर ही रह गया । यद्यपि प्रस्तावना के विषय में एक दूसरा भी मत है कि राकेश ने इसे किसी नाटकीय युक्ति की तरह नहीं बल्कि संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना की चली आती परम्परा को नये सन्दर्भ में प्रयुक्त किया है ।

"आधे-अधूरे" में बिन्नी का संवाद उसकी आयु के अनुकूल टोन, छन्दात्मक मन:स्थिति, प्रश्नात्मक वाक्य, उलझन, रूकावट लिए है, जबकि किन्नी में उसकी आयु के अनुकूल टोन और शब्द-प्रयोग है । सावित्री जीवन में बहुत कुछ भोगी हुई बहुत अनुभवी स्त्री के टोन में बात करती है । संवादों को पात्रों के आंतरिक जगत से जोड़ना आंतरिक लय की मौलिकता, व्यंग्य की चुभन, पर्याप्त सांकेतिकता, आक्रामकता, पैनापन इसमें राकेश की देन है-वही रंगमंच को छा लेता है । संवादों की इस बनावट में राकेश की भाषिक संरचना उल्लेख्य है । नाट्य भाषा राकेश का सबसे सशक्त पक्ष है । नाटक में शब्द को महत्वपूर्ण मानकर और रंगमंच की शब्द निर्भरता को आधार मानकर ही उन्होंने एक नया मोड़ ही पैदा किया । उनके लिए रंगमंच में बिम्ब का उद्भव शब्दों के बीच से होता है । x उनके लिए शब्द अपने आप में एक अर्थवान इकाई है और शब्द क्रम में जुड़कर दूसरे शब्दों के अर्थ से मिलकर एक खास लय की सृष्टि करते हैं । यह आंतरिक लय ही शब्द-योजना को सर्जनात्मक रूप देती है । राकेश मुख्य भूमिका बिम्बों और दृश्य तत्वों को नहीं शब्द से उत्पन्न बिम्ब, लय और दृश्यत्व को ही मानते हैं । इससे नाटकार की अहम् भूमिका दायित्व और रचनात्मक दृष्टि और हिन्दी रंगमंच के सन्दर्भ में "अकृत्रिम रंगशिल्प" की आवश्यकता स्थापित होती है । स्थिर, मृत, लिखित

---

x रंगमंच और शब्द: मोहन राकेश: नटरंग-18 पृ0 29

भाषा की जड़ता को तोड़ने की कोशिश उनमें दीखती है । टकराहट, भाषा संयम, लाक्षा बिम्ब, ध्वनियां, लय नियोजन उनकी नाट्य भाषा की कसौटी है । शब्द-संयोजन, शब्दों के बीच के मौन अंतराल को भी वह भाषा की अभिनयात्मकता देते हैं । शब्द को अनुभव और रंग बोध से सम्पन्न करना राकेश की देन है । प्रतीकों और बिम्बों का सार्थक संश्लेषण नाटक की रंगमंच की समग्र संरचना और परिकल्पना में सहायक हुआ है । "आधे-अधूरे" में सांकेतिकता और एक्शन अनिवार्य जीवंत तरीका बनकर आये हैं । नाटक के आरम्भ में ही चीजों का बिखराव जीवन के सम्बन्धों के बिखराव को, अनुराग विहीन स्थितियों को साकार कर देता है । सावित्री का झल्लाकर बिखरी चीजों को समेटना एक "निरर्थक" कोशिश जैसा है ।

आधुनिक काल के हिन्दी नाटकों की कई धाराएं हैं- उदाहरण के लिए लोक नाट्य शैली में लिखे व मंचित किए गए नाटक "बकरी", "आगरा बाजार" एवं "चरण दास चोर" आदि, एकधारा जीवन की विसंगति को अभिव्यक्ति देने वाले नाटकों की भी है । यह धारा पश्चिम के "एबसर्ड" नाटकों की प्रेरणा से भारत में आयी । हिन्दी में इस धारा के प्रारम्भिक नाटककारों में भुवनेश्वर का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है । पश्चिम में "एबसर्ड" नाट्य धारा के आरम्भ होने से भी पहले हिन्दी में भुवनेश्वर ने वर्तमान युग की ट्रैजिडी और उसके विरूद्व निश्चित सांचे में ढली हुई उसकी अभिव्यक्ति, नाटक के विरोधाभास को अनुभव कर लिया । उन्होंने महसूस किया कि विवेक और तर्क तीसरी श्रेणी के कलाकारों के चोर दरवाजे हैं । उन्होंने विश्व मानव की पीढ़ी, अव्यवस्था और विघटन भय और निराशा, टूटते मानवीय रिश्तों के दर्द को अनुभव किया, जो उनके नाटक "<u>तांबे के कीड़े</u>" में तीखेपन से व्यक्त हुआ ।

"तांबे के कीड़े" की तिलमिलाहट, आदमी की बेचैनी, उलझन, अकेलापन, तनावपूर्ण वातावरण, शिल्प का नयापन, आक्रामक चित्र, एबसर्ड नाट्य परम्परा का सशक्त उदाहरण है । चूंकि आजादी से पहले हिन्दी में उस समय न रंगमंच था, न सही समीक्षक, न रंगकर्मी का कोई अस्तित्व था, न निर्देशन का सर्जनात्मक व्यक्तित्व । इसलिए

यह नाटक विश्व-सन्दर्भ में अपना पृथक् स्थान रखते हुए भी अजनबी, अलक्षित-सा रह गया । उस समय भुवनेश्वर "पागल" कहकर और "ताँबे के कीड़े" अलजलूल रचना कहकर छोड़ दी गयी नितान्त प्रयोगशील और संश्लिष्ट संवेदनाओं के इस नाटक में नाटक को रचनाबन्ध से मुक्त करने की रचनात्मक आकुलता मौजूद है । सब कुछ सम्बद्ध-सा है क्योंकि विश्वयुद्ध ने हमें यह एहसास करा दिया कि दुनिया में हमारा अस्तित्व अलजलूल है-हम बिना किसी से कहे पैदा हो गये हैं और बिना खोजे मृत्यु हमें मिल जाती है । हम अपने शरीर और बुद्धि में लिपटे जीवन और मृत्यु के बीच जिन्दा रहते हैं । हम अपनी शक्ति का अनुभव करते हैं लेकिन हमारी हर रचना नष्ट हो जाती है जैसे स्वयं हम । सब कुछ अनिश्चित है इसलिए नाटक भी अनिश्चितता, अर्थहीनता से भरा हुआ है । स्वप्न, फैन्टेसी, मृत्यु, भय उसके अनिवार्य अंग हैं । अगर संसार में मनुष्य जीवित प्राणी न रहकर मात्र एक चीज बनकर रह गया है तो नाटक में भी व्यक्तित्व नाम की चीज कितनी निरर्थक है । "ताँबे के कीड़े" इसलिए नायकत्वहीन रचना है । मंच पर केवल एक ही पात्र है-शेष सभी पात्र रिक्शावाला, अफसर, मसरुफ पति, परेशान रमणी, पागल आया, निर्मला-मंच पर नहीं आते । उनके नेपथ्य स्वर ही उनकी उपस्थिति और उनकी ट्रेजेडी का आभास कराते हैं । लेकिन चूँकि आदमी को जीना है, जीने के लिए दिल बहलाने के लिए वह परिवर्तन चाहता है । इन सारी स्थितियों को गहरी मानवीय करुणा और तीव्र संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है । भुवनेश्वर ने सम्भवतः बड़ी गहराई से यह अनुभव कर लिया था कि आज के युग में आदमी सिर्फ देख सकता है, सुन सकता है । सोच नहीं सकता, सोचा कि अचेत । शरीर और दिमाग दोनों एक साथ सम्भव नहीं है । समझने की शक्ति चुक गयी है । समझने की इच्छा मानवीयता भी शेष नहीं रह गयी है इसीलिए समझना भी सुनने के बराबर है ।

"ताँबे के कीड़े" तत्कालीन प्रचलित नाट्य शैली शिल्प से सर्वथा भिन्न प्रकार की रचना है एक नितान्त प्रयोगशील और संश्लिष्ट संवेदनाओं का नाटक अपने संक्षिप्त रूप में एक लम्बा पूरा नाटक । यह नाटक को उसके रचना बन्ध से सर्वथा मुक्त करता है और

अस्त-व्यस्त समाज की पीड़ा को, अन्तर्व्यवस्था को, चारों ओर व्याप्त असमानता को, विघटन को बड़े तीखेपन और बड़ी करुणा के साथ निर्बन्ध होकर व्यक्त करता है। शब्दों में बताने के लिए उसका कोई कथानक नहीं है, कोई घटनायें नहीं हैं, न कथानक का क्रमिक विकास ही। सब कुछ अनिश्चित है, कोई उद्देश्य नहीं है, सबसे जरूरी चीज अगर कोई है तो वह है मृत्यु जिसे हम चाहते हुए भी भुला नहीं पाते क्योंकि हम निरन्तर उसका सामना करते हैं, इसलिए नाटक में भी न कथानक का आरम्भ है न मध्य विकास का अन्त। इसमें किसी युग-विशेष का, या किसी सामाजिक पक्ष का चित्रण नहीं है। बल्कि जीवन की अर्थहीनता, विचारों का खोयापन एक लक्षण मानवीय स्थिति मस्तिष्क पर छाती चलती है। स्वप्न, फैंटेसी, मृत्यु, भय उसके अनिवार्य अंग है। वस्तुत: नया नाटक उस संसार को देखने का एक तरीका है जिसने अर्थ और उद्देश्य खो दिया है। इस संसार में आदमी का अकेलापन नाटककार को कचोटता है और वह इस सारे सत्य से, स्थिति से सीधे सचेतन रूप में दर्शक का सामना कराना चाहता है। भुवनेश्वर ने महसूस किया कि आदमी एक जीवित प्राणी न होकर एक चीज रह गया है। इसलिए नाटक में भी व्यक्तित्व नाम की चीज कितनी निरर्थक है। स्थिति एकदम उलट गयी है। ट्रेजेडी कामिक में बदल रही है और कामिक ट्रेजेडी में। आयेनेस्को ने कहा था कि मुझे लगता है कि जो कामिकल है, वह ट्रेजेडी है। "तांबे के कीड़े" नायकत्वहीन रचना है। मंच पर केवल एक ही पात्र है अनाउन्सर जो स्त्री है रंग-बिरंगे शोख कपड़ों में, हाथ में बड़ा-सा झुनझुना लिए। शेष पात्र हैं रिक्शावाला, थका अफसर, मसरूफ पति, परेशान रमणी, पागल आया और निर्मला जो मंच पर नहीं आते केवल उनके स्वर सुनायी देते हैं। इन सभी पात्रों में इनके स्वरों में ऊपरी ओर से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, कोई क्रम या सिलसिला नहीं, बेतरतीब लेकिन उसी में इन्सान की, हर वर्ग की गहरी अन्तर्व्यथा छिपी हुई है। यह नाटक बहस नहीं करता, केवल प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत करने में जितनी सहायक बेतुकी स्थितियां पात्रों की बेतुकी बातचीत हो सकी है उतनी ही सहायक भाषा भी। यही नहीं कि भाषा बोलचाल की है बल्कि बड़े गहरे अनुभव और व्यापक नाट्यानुभूति से जन्मी हुई है-बहुत ही सांकेतिक। शब्द जैसे कई ध्वनियां देनेवाले हैं।

भुवनेश्वर ने नाटक की आत्मा में प्रवेश किया है । परम्परागत प्रस्तुतीकरण से प्रचलित मूल भाषा से स्वतंत्र होकर ध्वनियों से, प्रतीकों से, संकेतों से काम लिया गया है । "तांबे के कीड़े" की भाषा इस सत्य का सशक्त उदाहरण है कि नाटक भाषा से बनता भी है और भाषा से बनाता भी है, कि नाटक की भाषा पूरे साहित्य की भाषा को बदल सकती है, नया रूप दे सकती है । उस जमाने में जबकि हिन्दी नाटक में यह संकेत भी पाठ्य ज्यादा हुआ करते थे और थोड़ा-बहुत अश्क को छोड़कर रंगानुभूति नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्ध का और नाटक को एक सशक्त जीवन्त कला के रूप में कोई भी अनुभव नहीं कर पाया था, भुवनेश्वर की मौलिकता और नाटकीय समझ विस्मित कर देती है । उस समय जब कि जयशंकर प्रसाद की परम्परा में चलने वाले सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि के सांस्कृतिक दृष्टि के नाटक प्रचलित थे,या विचार, समस्या, तर्क, आधुनिकता के नाम पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के विचारोत्तेजक नाटक थे और नाटक प्राय: पाठ्य ही हुआ करते थे, केवल अश्क के नाटक या एकांकी ही रंगमंच के निकट थे लेकिन वह भी मध्यवर्गीय समाज से बंधे हुए थे । उस भुवनेश्वर का व्यक्तित्व अकेला है बल्कि अपने समकालीन साहित्यकारों में वह विशिष्ट कहे जा सकते हैं क्योंकि इस स्तर की रचनात्मक शक्ति हिन्दी में उंगली पर गिने जाने वाले दो एक साहित्यकारों में मिलती है । लेकिन उस समय की साहित्यिक परिभाषा में वह फिट नहीं बैठते थे । जो जीनियस के लक्षण थे, वह"पागलपन" के लक्षण माने गए । लेखन अलजलूल माना गया । लेखक गुमनाम हो गया । यह समय से पहले पैदा होने का दंड था ।

हानूश - आत्मबोध के साहित्यकार के रूप में भीष्म साहनी लम्बे समय से हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हैं । उनका जीवन-दर्शन, उनके साहित्यिक मूल्य मुख्यत: मार्क्सवाद और विभाजन के बाद की परिस्थितियों से प्रभावित है । मार्क्सवादी दर्शन ने उनके जीवन-जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण और धारणाओं को निर्धारित किया है लेकिन जीवन अनुभवों की विविधता और व्यापक संघर्ष जैसे-जैसे उनके सामने ज्यादा खुलता गया,

वैसे-वैसे मार्क्सवादी दर्शन की वैचारिक उलझन कम होती गयी है । स्वयं उनके शब्दों में, "यह सभी जानते हैं कि मैं मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अपने जीवन को देखता हूँ और साहित्य में उसका प्रयोग करता हूँ । लेकिन फिर भी मेरी यह विचारधारा मेरे जीवन में या मेरी रचनाओं में कोई अनावश्यक दबाव नहीं डालती ।" कथा से नाटक तक आने की यात्रा वस्तुत: भीष्म साहनी की यही "आत्मसात" कर लेने की यात्रा है । मूल में मार्क्सवादी दर्शन है लेकिन उसका दबाव नहीं, अन्यथा नाट्य रचना का कोई अर्थ न रह जाता ।

"हानूश" नाटक की रचना आन्तरिकता, संवेदनशीलता को लिए हुए है, इसीलिए उसे हम "आकस्मिक" नाट्य रचना या मात्र एक प्रयास नहीं कह सकते । "तमस" उपन्यास के साथ "हानूश" ने साहनी की कलात्मकता और संघर्षशील सामाजिक चेतना को प्रकाशित किया है । अपने समय सेसम्बद्ध कलाकार के रूप में वह जब यह कहते हैं कि मेरे संस्कार और अनुभव मुख्यत: वही रहे जो मेरी पीढ़ी के अन्य लोगों के रहे होंगे ।... अपने समय और काल को लांघकर कोई नहीं जिया, भले ही वह कोई कलाकार हो या बढ़ई या डाक्टर । इस दृष्टि से एक लेखक वैसा ही सामान्य जीव है जैसा अन्य कोई जीव ।... इसी दृष्टि से कलाकार अपनी कला को आंकता है, अपनी कला के दर्पण में अपने काल के जीवन, उसकी विषमताओं, उसके विरोधाभासों को ही उतारता है । x तब"हानूश" नाटक की संवेदना और भी स्पष्ट हो जाती है । "हानूश" एक कलाकार, संघर्षशील कलाकार की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है । हिन्दी नाट्यलेखन की सारी पृष्ठभूमि, समस्याओं और आशंकाओं के बीच अपनी विशेष मानवीय संवेदनाओं के कारण साहनी के इस अकेले नाटक ने सभी निर्देशकों-रंगकर्मियों का ध्यान आकृष्ट किया । आज जब कि हिन्दी नाटक प्रयोग के नाना प्रपंचों के बीच से गुजरता हुआ एक खास रुचि के वर्ग के देखने-समझने की कला बन रह गया है या नाट्यलेखन की गति में रंगकर्म की तुलना में सहसा

---

x सारिका: नवम्बर 1979, पृ0 39

ठहराव-सा आ गया है, यह नाटक अपने शिल्प की सादगी, कथ्य के पैनेपन और तीव्र घनीभूत तनावपूर्ण मानसिक स्थितियों के भावात्मक चित्रण के कारण प्रभावित करता है और सुखद आश्चर्य की अनुभूति कराता है । "हानूश" में जीवन के उतार-चढ़ाव हैं और उन्हीं से बुनती जाती परिस्थितियां हैं- परिस्थितियों की मार और चोट है । वहां न कथा-विन्यास के स्तर पर कोई मकड़ी का जाल बुना गया है, न पात्रों के चरित्र-चित्रण के स्तर पर । बिना किसी अनोखेपन, अजूबेपन के पात्र भी संघर्ष के बीच से उभरते हैं । इसलिए "हानूश" में भले ही निर्देशक को कुछ स्थलों का संपादन करना पड़ता हो और संवादों में कहीं-कहीं रंगमंचीय दृष्टि से परिवर्तन करना पड़ता हो, लेकिन जहां तक उसकी सघन संवेदना की अभिव्यक्ति का सवाल है- वह सर्जनात्मक स्तर "हानूश" में विद्यमान है ।

भीष्म साहनी मास्को से सम्बद्ध रहे हैं । 1960 के आसपास चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में पुरानी गिरजे, मध्ययुगीन वातावरण तथा एक पुरानी मीनार घड़ी को देखकर उसका इतिहास और वहां के बादशाह द्वारा उस घड़ी के निर्माण को दिये गये विलक्षण पुरस्कार की कहानी सुनकर जो अमिट प्रभाव साहनी के मन-मस्तिष्क पर पड़ा उसी ने इस नाटक को वह रचनात्मक स्वरूप दिया । चेक इतिहास की घटना से सम्बद्ध होते हुए भी यह ऐतिहासिक नाटक नहीं है, बल्कि पढ़ने पर इतिहास का आभास भी नहीं होता । लेखक का उद्देश्य घड़ी की विलक्षणता, उसके आविष्कार की लम्बी कहानी बताना भी नहीं है, जैसा कि स्थूल दृष्टि से देखने पर किसी को लगे । इसके विपरीत नाटक सूक्ष्म स्तर पर मानवीय स्थिति, मानवीय नियति को प्रस्तुत करता है । ताला बनाने वाले सामान्य मिस्त्री "हानूश" के जरिये एक कलाकार की सृजनेच्छा शक्ति और संकल्प की तीव्रता को पूरी संवेदनशीलता से तीन अंकों में प्रस्तुत किया गया है । यहां एक रचनाकार ने रचनाकार की दुर्दमनीय सृजनेच्छा, उसकी विवशता, निरीहता और संत्रापन्न स्थिति को पूरी तरह पहचाना है । मोहन राकेश के "आषाढ़ का एक दिन" में सत्ता के बीच एक साहित्यकार के अन्तर्द्वन्द्व का मूल प्रश्न तो उठाया गया था लेकिन

उसकी सृजनेच्छा की आन्तरिक आकुलता और पीड़ा को इतनी सघनता और तीव्रता से चित्रित नहीं किया जा सकता था ! "हानूश" में लेखक का सम्पूर्ण मन इसी द्वन्द्व और पीड़ा पर केन्द्रित है-वहां प्रणय-सम्बन्ध रोमैंटिक वातावरण नहीं है । नाटक के इस मूल सत्य के साथ सत्ता की विरोधात्मक, विध्वंसात्मक शक्ति और जनशक्ति एवं सामाजिक शक्ति के संघर्ष को बुना गया है । नाटक में व्यवस्था की कूटनीति, क्रूरता, स्वार्थपरता, आशंकाग्रस्त दुर्बल मानसिक स्थिति के मौजूद होते हुए भी वह व्यंग्य प्रधान राजनीतिक नाटक या व्यवस्था-विरोधी नाटक के रूप में नहीं है, जैसे इधर हिन्दी में कई नाटक लिखे गये । बल्कि इसमें प्रमुख स्वर है सामान्य मनुष्य और कलात्मक, संवेदनशील सर्जनात्मक, व्यक्तित्व की छटपटाहट, उसके दमन, निरीहता और हत्या का । कलाकार के पारिवारिक तनाव और लगाव के बड़े सच्चे और स्वाभाविक वातावरण, आर्थिक संकट, घरेलू सम्बन्ध और सहज परिस्थितियां हैं । पति-पत्नी के बीच सहज कोमल आन्तरिक सूत्र होते हुए भी आर्थिक संकट से उपजा तनाव है जो स्थायी न होते हुए भी क्रूर सत्य है । जो आदमी अपने परिवार का पेट नहीं पाल सकता, उसकी इज्जत कौन औरत करेगी ? पत्नी कात्या के इसी प्रकार के कड़ुवाहट और पीड़ा भरे संवादों से नाटक के प्रथम अंक का आरम्भ होता है । पारिवारिक संकट, आपसी सम्बन्ध, हानूश का व्यक्तित्व, उसकी घड़ी बनाने की आन्तरिक लगन, कलाकार की सिसृक्षा, उसका आन्तरिक संकट स्थापित हो जाता है- सत्ता का विरोध और गहरी मानवीय करुणा भी हृदय को उद्वेलित कर जाती है । दूसरा अंक हानूश यानी सृजनशक्ति, कला-चेतन, फिर सत्ता द्वारा उसके क्रूर दमन की भयावह सच्चाई को प्रस्तुत करता है । महाराज द्वारा हानूश की आँखें निकलवाने का दिया गया क्रूर आदेश, उस आदेश से तड़पते-व्याकुल हानूश की स्थिति, चारों तरफ घनघोर सन्नाटा, दूसरी ओर घड़ी बजने की आवाज, खुशी में लोगों की तालियां, समारोह की आवाजें "हानूश जुग-जुग जियो, हानूश का चीत्कार, पास में अधिकारियों का आकर खड़े हो जाना जिस मार्मिक दृश्य का चित्रण करते हैं, वह रंगमंचीय दृष्टि से सफल है-विरोधी तनावपूर्ण स्थितियों का गत्यात्मक विकास स्वाभाविक गति से होता गया है । तीसरा अंक कलाकार की क्रूर मानवीय नियति को दमित शक्ति

की आन्तरिक पीड़ा को, सत्ता की अंधी-खोखली नीति को व्यंग्य के स्तर पर नहीं, गहरी संवेदना के स्तर पर मार्मिक अभिव्यक्ति देता है । कलाकार की मौत भले ही हो जाये, उसकी सृजनशक्ति, सामान्य मानव की आन्तरिक शक्ति नहीं मर सकती । अन्त में हानूश के शब्द-"घड़ी कभी बन्द नहीं होगी, इस सत्य का संकेत कर जाती है ।

इस सम्पूर्ण संवेदना की प्रस्तुति के लिए कोई आग्रह, कोई शिल्पगत प्रयोग दृष्टि नहीं है- न चौंकाने का बाना न कोई आरोपण । आसानी से नाटक का सारा कार्य व्यापार दो स्तरों पर चलता है- हानूश का मध्ययुगीन कमरा और नगर पालिका का हाल जो नाटक में निहित विरोधाभास, नाटक के व्यंग्य, संघर्ष और तनावग्रस्त स्थितियों के एकदम उपयुक्त हैं, बल्कि दोनों स्थल अभिव्यक्ति का, दूरी और दरार दिखाने का काम करते हैं । नाटक का अंतिम दृश्य घड़ी को मीनार में रखकर उसे जिस तरह नाटक की मूल चेतना से सहसा जोड़ दिया गया है, वह महत्वपूर्ण है, बल्कि घड़ी को मीनार की दीवार में रख देना भी साहनी की नाट्य कला का उदाहरण है, क्योंकि ऐसा करके उन्होंने नाटक की मूल चेतना को प्रखर एवं संप्रेषनीय बना दिया है । यह अंतिम दृश्य आन्तरिक संघर्ष की तीव्रता के चित्रण की दृष्टि से बेजोड़ है । घड़ी की मीनार में अकेला हानूश अंधा । उसकी एक-एक हरकत, हर वाक्य, हर कोशिश केवल सृजन की छटपटाहट का हिस्सा है । गहरे अंधेरे के बीच सिर्फ दो मशालों की रोशनी के बीच में सारी क्रियायें और आन्तरिक शक्ति का गहरा अहसास नाटक को बिल्कुल भावुक नहीं बनने देता । दृश्य बंध के नये प्रयोग की निरर्थकता को व्यक्त करता हुआ "हानूश" नाटक इस सत्य को प्रमाणित करता है कि हिन्दी रंगमंच को पश्चिमी रंगशिल्प या कृत्रिम रंगशिल्प की आवश्यकता नहीं है । "हानूश" अपने आप में बहुत लचीला नाटक है । उसमें अनंत सम्भावनाएं निहित हैं । नाटक का अपने शिल्प में लचीला होना उसकी अनिवार्य शर्त मानी जानी चाहिए । यह लचीलापन "हानूश" की भाषा में भी है-एक घरेलू सहज प्रवाह-बोलचाल की भाषा का सार्थक स्वरूप । वैसे तो

संवादों में निरर्थक विस्तार है । उस विस्तार से बचा जा सकता था । इसे एक कथाकार की कथात्मकता का परिणाम ही कहा जा सकता है । यद्यपि भीष्म साहनी ने एक साक्षात्कार में स्वयं टिप्पणी की है कि-"ऐसा तो नहीं हो सकता कि लेखक समझे कि वह नाटक लिख रहा है, पर वास्तव में वह कहानी लिख रहा हो, कथोपकथन कहानी में भी पाये जाते हैं, बनावट की दृष्टि से कहानी भी आगे बढ़ती जाती है और नाटक भी लेकिन फिर भी कहानी कहानी है और नाटक नाटक । मैं नहीं समझता कि नाटक में कहानी का रंग कहां तक आता है । सम्भव है वर्षों तक कहानियां लिखते रहने के कारण आता है, पर इसका आभास मुझे नहीं हो सकता था ।" x

हिन्दी नाटक में लगभग सातवें दशक के आसपास कुछ वर्षों तक एक दौर शुद्ध राजनीतिक व्यंग्य के नाटकों का भी आया और प्राय: हर छोटी-बड़ी संख्या द्वारा इस प्रकार के नाटक खेले जा रहे थे और मंच बहुत लोकप्रिय हो रहे थे । हिन्दी नाटक को राजनीतिक व्यंग्य, समसामयिक प्रश्नों, जनता की पीड़ा और बड़े दर्शक-समूह से जोड़ने में सुशील कुमार सिंह का नाम लिया जायेगा । सुशील कुमार सिंह युवा नाटककार और निर्देशक के रूप में "आचार्य रामानुज", "बापू की हत्या हजारवीं बार" और "अंधेरे के राही" नाटकों से प्रतिष्ठित हो चुके थे, लेकिन उन्हें वास्तविक प्रतिष्ठा मिली अपने चौथे पूर्णकालिक नाटक "सिंहासन खाली है" से । यह नाटक प्रकाशन से पूर्व ही विभिन्न स्थानों पर इतनी बार प्रदर्शित हुआ कि चर्चा का विषय बन गया । वस्तुत: यह नाटक हर नागरिक को अपने मन की चिंता की अभिव्यक्ति जैसा लगता है । सिंहासन प्रतीक के माध्यम से समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों पर तीखा-पैना चुभता हुआ सटीक राजनीतिक व्यंग्य किया गया है । हमारा पूरा इतिहास साम्राज्य-लिप्सा और महत्वाकांक्षा से उपजे राजनैतिक कुचक्रों, झूठ, प्रपंच, छल-षड्यंत्र, क्रूरता-हिंसा की कहानी दोहराता रहा है । स्वतंत्रता के बाद भी यह इतिहास उसी रूप में चलता रहता है और आम आदमी को बदलता रहता है । वर्तमान राजनीति कितनी छिछली, असत्य, खोखली

---

x सारिका: नवम्बर 1978, पृ0 14

और भयानक हो गयी है, नाटक इसका पर्दाफास बड़ी गतिशील सच में करता है । नेताओं के मुखौटे यहां उतरते रहते हैं । किस प्रकार उनकी शब्दावली, उनका व्यवहार महज एक चोला है और कुर्सी से चिपके रहने की प्रवृत्ति उन्हें हत्याओं, षड्यंत्र, चुनाव के हथकंडों, झूठे वादों, कोरी नारेबाजी, खोखली भाषा तक भाषणों तक ले आती है- यह नाटक के संक्षिप्त चुस्त कलेवर में तीखेपन के साथ व्यक्त होता है । "राजा" शब्द के साथ "पोषण", "संरक्षण", "विश्वास" शब्द जुड़े हैं लेकिन वे आज "शोषण", "भक्षण", "अविश्वास" में बदल गये हैं । सत्ता और जनता के इस संघर्ष को लेखक इतिहास में मानता है । सत्ता का यही स्वार्थपूर्ण, लोलुप रूप जनता में विरोध, विद्रोह की आग पैदा करता है और जनता की विवशता, पीड़ा को स्वत: रेखांकित करता चलता है । वस्तुत: करुणा से ज्यादा लेखक व्यंग्य को ही उभारना चाहता है । व्यंग्य ही इस नाटक का मुख्य स्वर है । इस कटु यथार्थ और नग्न सत्य को नाटक जिस तरह प्रस्तुत करता है वह शिल्पगत, अभिव्यक्तिगत कौशल है । खाली सिंहासन, सुपात्र की तलाश सब सांकेतिक है । ये सारे संकेत, सारी स्थिति सूत्रधार का उपयोग तेजी से शुरू भी हुआ था । सूत्रधार ही नाटक के आरम्भ में अपने वक्तव्य में दर्शकों में सुपात्र को तलाशने की घोषणा करता है-ऐसा पात्र जो "इस सिंहासन पर बैठ कर सत्य-अहिंसा और न्याय की पुर्नप्रतिष्ठा कर सके ।" और तब नाटक शुरू होने लगता है-दर्शकों, जनता के बीच से उठकर मंच पर आने वाले सिंहासन के अलग-अलग दावेदार व्यक्तियों, महिला के संवादों और अभिनय से । यहीं से पारस्परिक संघर्ष, चालों-कुचालों, पैतरों की शुरूआत होती है । सूत्रधार के कथा-संयोजन, संकेतों, वक्तव्यों के साथ नाटक चुनाव प्रणाली के सारे खोखलेपन, हथकंडों को खोलता हुआ अन्त तक गठन, रोचक प्रसंगों और तीव्र लय के साथ चलता रहता है और अन्त में आपस में लड़ते-उलझते दावेदारों से सूत्रधार को कहना पड़ता है-संघर्ष रोक दो-संघर्ष नहीं सुपात्र चाहिए । संघर्ष का सूत्रपात करके एक और युद्ध को जन्म मत दो । युद्ध, महायुद्ध और महायुद्ध, महाप्रलय की सृष्टि भी कर सकता है । x और नाटक खाली सिंहासन, उपयुक्त पात्र-मानवता की, शांति की रक्षा करने वाले पात्र

---

x सिंहासन खाली है: पृ0 99

की तलाश पर ही समाप्त होकर पूरे ऐतिहासिक और आज के सन्दर्भ से जुड़ता जाता है । इस राजनीतिक सन्दर्भ के साथ यद्यपि नाटक मध्यवर्गीय समाज की प्रवृत्तियों का भी संकेत करता है उदाहरणार्थ राशन की समस्या, गिरहस्ट की समस्या, बिजली-पानी की समस्या, इन समस्याओं से उत्पन्न उनकी थकान, मध्यवर्गीय समाज का दब्बूपन, कमजोर शरीर, चुनाव के प्रति पैदा हुई उदासीनता-लेकिन ये मूल व्यंग्य के उभारने के लिए ही-प्रमुख नहीं है । हाँ, इनसे व्यवस्था और आदमी के बीच की दूरी का, दोनों पक्षों की अपनी-अपनी दुर्बलताओं का, संघर्ष का स्वरूप उभरता है । निर्देशक होने के नाते सुशील कुमार सिंह ने नाटक की संरचना में संयोजन, क्रमिकता, गति, लय, वैविध्य, संगीत, संवादों की कीमत, तेज घटित होती हुई राजनीति का अच्छा आभास दिया है । दर्शकों के बीच से पात्रों का उठकर आना केवल प्रयोग का रोमांस नहीं लगता है । लगता है कि आम आदमी किस प्रकार सत्ता में हिस्सा लेता है और धीरे-धीरे न केवल उस व्यवस्था के शिकंजों का शिकार हो जाता है बल्कि एक और सदा-लोलुप व्यवस्था का गवाह भी बन जाता है और दूसरी तरफ स्वयं ऐसी सत्ता को स्वीकार करने, भोगने का जिम्मेदार भी, वह अपराधी भी है और भोक्ता भी और साथ ही साक्षी भी । जगह-जगह संवादों को तीखी लय और व्यंग्य में बांधा गया है । पात्रों के समूहन, गीत-संचालन, बदलती लयों में घूमना, नाचना-कूदना, फ्रीज हो जाना सब अर्थ रखता है । संवादों, एक्शन, गति लय से ही दृश्य बदलते, मूर्त्त होते जाते हैं और कई जगह पर बादल सरकार के "जुलूस" जैसी योजना, दृश्य परिकल्पना, संवाद रचना जैसा लगता है । आज की अत्यन्त तेज धार वाली राजनीति के चित्रण के लिए नाटक की आद्यंत तेज गति प्रभावित करती है, परिस्थितियों के दबाव से जन्मी रचनात्मक कृति नहीं । अगर इस नाटक को व्यापक सन्दर्भ में रखकर देखा जाये, तात्कालिक प्रभाव के लोभ से नहीं तो इसका यह सत्य भी प्रभावित कर सकता है कि किस प्रकार राजनीति के भ्रष्ट रूप ने उसे इतना मूल्यहीन बनाकर विघटित कर दिया है कि जनता की आस्था, विश्वास, यहां तक कि रुचि भी उसमें समाप्त हो गयी है, और परिणाम स्वरूप जनता इस दिशा भ्रम से ग्रस्त है कि वह कहां जाये किसे चुने, राजा कौन हो ? इन्हीं अर्थों में हम इसे सार्थक व्यंग्य नाटक कह पायेंगे । शिल्प की ताजगी, सादगी और लचीलेपन ने नाटक को रोचक, अर्थपूर्ण बनाया है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

60 से 75 के दौर में नाट्य लेखन बहुत तीव्र गति से और संगठित आन्दोलन की तरह प्रस्तुतीकरण प्रक्रिया और रचना-प्रक्रिया के साथ जुड़कर हुआ । इस दौर में एक ओर बौद्धिकता, प्रयोगशीलता और आधुनिक प्रश्नों से टकराहट भी नाटकों में आ रही थी, दूसरी ओर रंगकर्म से प्रेरित होकर भिन्न प्रकार की सक्रियता और नवीनता की ताजगी भी आ रही थी । इन दोनों विशेषताओं को लेकर बृजमोहन शाह के नाटक "त्रिशंकु", "शह ये मात" और "शुद्ध मन" सामने आये । इन नाटकों से दो भिन्न प्रकार के प्रभावों और आधुनिकता के दबाव को अनुभव किया जा सकता है । निर्देशक, अभिनेता बृजमोहन शाह ने अपने "त्रिशंकु" नाटक की नवीनता रोचकता, उसके कथ्य और शिल्प से, उसके प्रयोगात्मक रूप से और नाटककार निर्देशक अभिनेता-दर्शक के समीकरण से बड़े-से-बड़े पैमाने पर सबको आकृष्ट किया है । ज्यादा दिलचस्प बात यह लगती है कि यहाँ नाटककार एक रंगकर्मी की खुली दृष्टि लिए हुए है, यानी "त्रिशंकु" का लेखन अभी भी समाप्त नहीं हुआ है बल्कि यह हर मंचन के साथ और अधिक सोंचने-समझने, बदलते रहने और बेहतर करने की छूट देता है । स्वयं शाह का कहना है कि "त्रिशंकू" पूर्वाभ्यास के दौरान निर्देशक और अभिनेताओं से स्थल-स्थल पर समय के परिप्रेक्ष्य में रंगकर्मियों की समस्याओं, मूल्यों, मान्यताओं और आवश्यकताओं से जीवन्तता प्राप्त करने के लिए अभिरचना (Improvisation) की मांग करता है । जाहिर है कि इससे इस नाटक की ताजगी बनी रहती है और इसलिए जीवन्तता भी ।

"त्रिशंकू" को यूं व्यंग्य समस्या नाटक कहा जाता रहा है । क्योंकि इसमें मुख्यत: युवा पीढ़ी के संघर्ष और निरर्थकता बोध को अभिव्यक्त करता है और हमारे सामाजिक-राजनीतिक चरित्र पर व्यंग्य करता चलता है लेकिन इस नाटक में समस्या और व्यंग्य इकहरा नहीं है । उसमें बीच-बीच में समकालीन रंगमंच की अव्यवस्थित स्थिति और निर्देशक, अभिनेता, प्रेक्षक के संकट, उनके सम्बन्धों और उनकी आवश्यकताओं को भी प्रस्तुत करता चलता है । पौराणिक चरित्र "त्रिशंकु" की तरह आज हमारा युवा वर्ग ही नहीं टल रहा है, बल्कि पूरे समाज की और हमारे रंगकर्मी की स्थिति भी वैसी ही समाज

राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, रंगमंच, मध्यवर्ग सम्बन्धी स्थिति का चित्रण करने के लिए नाटककार ने अलग-अलग वर्ग और क्षेत्र से पात्रों को लिया है। नाटक जिस तरह प्रेक्षकों के बीच से और थियेटर वाला की सूत्रधार जैसी मुद्रा से शुरू होता है और आगे बढ़ता जाता है, वह स्वाभाविक और आकर्षक लगता है। मंच पर ही नाटक का रचते जाना और रचना के दौरान ही देश की सारी समस्याओं के संकेत मिलते जाना एक रोचक नाटकीय कल्पना है। नाटक की शैली का यह नयापन प्रभावपूर्ण है, जिसमें टोटल थियेटर की बात कही जाती रही है। बृजमोहन शाह ने लोक-नाटक की पारम्परिक नाट्यशैली और क्लासिकी नाटक की शैली को नयी सम्भावनाओं और व्यंग्य संकेतों के साथ "त्रिशंकु" में लिखा है। वैसे "त्रिशंकु" की रचना अपने में बहुत संगठित रही है। अनावश्यक रूप से नाट्य लेख बड़ा स्थूल-सा लगता है और इसीलिए बिना सम्पादन के उसकी चुस्त प्रस्तुति सम्भव नहीं हो पाती। इस स्थूलता का मुख्य कारण व्यर्थ की संवादात्मकता, रोचक तत्व का बढ़ाना और समस्या के मूल में बहुत गहराई से प्रवेश न कर पाना है। कहीं-कहीं जिस अर्थहीनता का आभास होता है वह इसी कारण है। कई स्थानों पर कुछ भ्रम पैदा होते हैं कि आखिर नाटककार कहना क्या चाहता है। या नाटक किस गम्भीर लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। अर्थात् पूरे नाटक में अलग-अलग वर्गों की एक दूसरे के प्रति या थियेटर वाला के संवाद अक्सर प्रतिक्रियात्मक लगते हैं और समस्या और लक्ष्य ऊपरी स्थूलता में ढक जाता है, उसे पूरे नाटक से महसूस नहीं किया जा सकता। नाटक में युवक की भूमिका, उसके संवाद काफी सशक्त है लेकिन युवक के माध्यम से मानवीय अपेक्षाओं को जिस विश्वसनीय और गम्भीर ढंग से नाटक के माध्यम से निकलना चाहिए था, वह नहीं हुआ है। जगह-जगह निरर्थक और अन्तर्विरोधी संवादों को नाटककार ने जीवन की विसंगति अर्थहीनता और विडम्बना दिखाने के लिए ही रखा है फिर भी सारी चीजें मिलकर नाटक की रचनात्मकता को गहरा नहीं करतीं। "त्रिशंकु" रंगमंच की शैली का जीवन्त प्रयोग अधिक है,

साहित्य की सूक्ष्म रचनात्मकता का क्रम । यद्यपि "दुश्मन" भी वर्तमान संघर्ष और दृष्यत्व एवं काव्यत्व का नाटक है लेकिन उनका "शह ये मात" अधिक सशक्त नाट्यकृति कहा जाना चाहिए । यह हिन्दी अधिक सिगनीफिकेन्ट नाटक है । भाषा बढ़िया है । नाटककार मोहन राकेश ने बृजमोहन शाह के दूसरे प्रसिद्ध नाटक "शह ये मात" पर यह टिप्पणी की है, वह नाटक की रचनात्मकता की स्वीकृति है केवल व्यक्तिगत विचार नहीं है ।

उपसंहार

उपसंहार

नाट्य विधा तथा रंगमंच का सम्बन्ध प्राचीन काल से रहा है तथा नाट्य विधा के द्वारा ही मनोभावों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है । नाट्य विधा एक ऐसी कड़ी है जो रंगमंच पर मनोभावों को प्रस्तुत करने के लिए जमीन तैयार करती रही है । मानव सभ्यता तथा संस्कृति के विकास क्रम में सदैव ही मनोभावों के प्रकटीकरण में नाटकों तथा रंगमंच का प्रयोग होता रहा है । इतना अवश्य है बाहरी परिवेश तथा परिस्थितियों ने तत्कालीन रंगमंचीय व्यवस्था को प्रभावित किया है । साथ ही, तकनीकी विकास के माध्यम से भी रंगशिल्प अधिक समृद्ध हुआ है । यही कारण है कि पहले कुछ नाटकों का प्रस्तुतिकरण हमें दुरूह लगा करता था, किन्तु आज उनके प्रस्तुतिकरण में कोई बाधा नहीं है । तकनीकीकरण के माध्यम से प्रकाश व्यवस्था, मंचीय व्यवस्था के माध्यम से विशेष दृश्य या भावविशेष को अत्यन्त बारीकी से उभारना अधिक आसान हो गया है ।

विज्ञान तथा तकनीकीकरण के विकास के साथ ही रंगशिल्प में नवीनता आना स्वाभाविक है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में पूर्वगामी नाट्य तथा रंगमंचीय शिल्प का सूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है तथा उसके हर पक्ष को विविध दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया है, किन्तु समय तथा कार्य को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता । इस विषय पर आगे भी नये कार्य किये जाते रहेंगे । इस विषय पर कार्य करने वाले शोधकर्त्ताओं के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध लाभकारी सिद्ध होगा, क्योंकि आज जब नाट्य-लेखन, नाट्य-समीक्षा, नाट्य-निर्देशन और रंगशिल्प अपनी संवेदनीयता तथा शिल्पगत विशिष्टता के विकास की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा है, रंगमंच और नाट्य-कला संप्रेषण को लेकर अपेक्षाकृत अधिक सशक्त रूप में परिलक्षित किया जा सकता है- नाट्य लेखन सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्यों और उसकी विडम्बनाओं तथा अपेक्षाओं को समेटे हुए कुछ सूक्ष्मतर भी हुआ है और समृद्धत्तर भी । पुराने और शास्त्रीय नाटकों का रंगमंच की अपेक्षाओं, रंगशिल्प के आलोक में उनका एक तरह से पुनर्लेखन/सम्पादन एक नये आयाम की ओर इंगित करता है । लम्बी कविताओं का मंचन इस सन्दर्भ का दूसरा छोर है । ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त तथा कनुप्रिया का मंचन इसका स्पष्ट उदाहरण है । ऐसी प्रस्तुतियों की लोकप्रियता तथा रंगमंच से नयी पीढ़ी का जुड़ाव, उनका भाव-चाव इस दिशा में अच्छा और प्रीतिकर लक्षण है । इससे हम आशावान् हैं ।

इसकी सूक्ष्म और जटिल प्रक्रियाओं की ओर संकेत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सन्दर्भान्तर्गत बहुश: हुआ है । इस रचना-प्रक्रिया को सामने लाने की विनम्र चेष्टा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की एक उपलब्धि कही जा सकती है । इसमें प्राचीन और अर्वाचीन तथा समकालीन स्थिति का सम्यक् विश्लेषण स्वत: होता गया है, इसकी प्रसन्नता है । रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो प्रहसन, रेडियो एकांकी की विवेचना इसके अनुक्रम में सहज ही रेखांकनीय है ।

हिन्दी नाटकों का स्थान आज एकांकी ने ले लिया है और एकांकी-लेखन तेजी से हो रहा है । नाट्यकृतियां अपेक्षाकृत कमतर ही प्रकाशित हो रही हैं । हास्य के साथ व्यंग्यपूर्ण और अर्थवान् एकांकी अनेक प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आज का एकांकी-लेखन बहुश: रंगशिल्प की अपेक्षानुसार किया जा रहा है, पाश्चात्य रंगशिल्प का भी इसमें न्यूनाधिक योगदान है यह स्वीकार करना चाहिए । तकनीकी-विकास और सूक्ष्मतर कलात्मक अवधान इसके विशेष उपादान के रूप में हमारे सामने हैं । केवल संवादों के सहारे भी नुक्कड़ नाटकों की लोकप्रियता का विश्लेषण भी रोमांचक है । रंगशाला, प्रेक्षागृह जिस प्रकाश व्यवस्था की तकनीकी की मांग तथा अपेक्षा से जुड़े हैं, भाव-प्रस्तुति वेश-भूषा, हाव-भाव, परिवेश के सृजन में वे सहायक उपादान हैं, इस दृष्टि से हमारा समाज अभी पिछड़ता कहा जाएगा, इसके पीछे अभाव एक स्थूल कारण है, सांस्कृतिक, सामाजिक दृष्टि का अभाव एक बड़ा और गहरा तथा सूक्ष्म कारण माना जाना चाहिए । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विवेचन के क्रम में यह बात उभर कर सामने आये और सारा दायित्व हम सरकार पर न छोड़कर इसको सांस्कृतिक और सामाजिक दायित्व से जोड़कर देखें तो समकालीन हिन्दी नाटक साहित्य का रंगशिल्प से गहनतर ही नहीं अन्योन्याश्रित अन्तर्सम्बन्ध अपने आप उभर कर सामने आता है । नाटक के साथ रंगशिल्प की विकास यात्रा और उसकी सूक्ष्मतर कलात्मकता के लिए इतिहास ज्ञान से अधिक इतिहास-दृष्टि तथा समाज-विज्ञान से अधिक सांस्कृतिक, वैज्ञानिक दृष्टि की जिस तरह अपेक्षा आज अधिक है उसी प्रकार समकालीन नाट्य-लेखन में भी बदलाव की एक महती आवश्यकता है, रंगशिल्प के आलोक में पहचानी और परखी जानी चाहिए, यह प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है ।

समकालीन हिन्दी नाट्य-लेखन अन्य विधाओं की अपेक्षा बहुत कम हो रहा है यह विचारनीय है। यह रंगशिल्प का विकास है जो नाटक विधा को साहित्य और समाज के साथ गहरे जोड़े हुए है, यह बात एक तरह से निर्विवाद है ।

इलेक्ट्रानिक्स मीडिया-रेडियो, दूरदर्शन तथा फिल्मों की तकनीक ने हिन्दी के नाट्य-लेखन को बहुत गहरे प्रभावित किया है और रचनात्मक अवधान के लोग इससे अब आत्मतुष्ट होकर रह गये हैं, यह शुभ नहीं कहा जा सकता ।

रचना और रंगशिल्प दोनों के सन्दर्भ में भाषिक-संरचना का सन्दर्भ और उसकी मीमांसा का बहुविशेष महत्व है । इस सन्दर्भ में यह कहना उपयुक्त और समीचीन होगा कि रंगशिल्प के विकास के साथ नाट्य-भाषा और नाट्य-समीक्षा का तेवर भी प्राचीन-अर्वाचीन तथा समकालीन नाट्य-लेखन में परिवर्तित हुआ है । नये मुहावरे, सूक्ष्म सांकेतिक अर्थपूर्ण वाक्य-विन्यास, इतिहास और संस्कृति से जुड़े पारम्परिक और समकालीन परिवेश को आलोकित करने वाले शब्दों की योजना रेखांकनीय है । अपेक्षाकृत अलंकारमयता और अतिनाटकीयता क्रम, व्यंजना शक्ति से लबालब शब्द-योजना मितकथन के कारण छोटे-छोटे वाक्य भाषा-संरचना की दृष्टि से अब अधिक महत्व के लगते हैं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उपर्युक्त दृष्टियों से एक विस्तृत अध्ययन और इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष मौजू और दिलचस्प होगा, आगे के अध्येताओं के लिए किंचित्, उपयोगी, यह हमारा विनम्र प्रयास रहा है ।

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय की सन्दर्भ पुस्तक सूची

1- नाट्यशास्त्र- भरतमुनि कृत

2- मालविकाग्निमित्र

3- धनंजय कृतदशरूपक

4- अभिज्ञान शाकुंतलम् - कालिदास कृत

5- नाट्यकला- डा0 रघुवंश

6- रंगदर्शन- नेमिचन्द्र जैन

7- भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच- सीताराम चतुर्वेदी

8- रंगमंच और नाटक की भूमिका- डा0 लक्ष्मी नारायण लाल

9- हिन्दी नाटक और रंगमंच पहचान और परख- सं0 इन्द्रनाथ मदान

द्वितीय अध्याय की सन्दर्भ पुस्तक सूची

1- रंगमंच- बलवन्त गार्गी

2- भरत का नाट्यशास्त्र- डा0 रघुवंश

3- अभिनव नाट्यशास्त्र- पं0 सीताराम चतुर्वेदी

4- जातक- भाग-6

5- वृहदारण्यक उपनिषद्

6- अष्टाध्यायी- पाणिनि कृत

7- अर्थशास्त्र- कौटिल्य कृत

8- वाल्मीकि रामायण

9- काव्य और कला तथा अन्य निबंध- जयशंकर प्रसाद

10- अरस्तू का काव्य शास्त्र- डा0 नगेन्द्र

11- रंगमंच- चेनी शेल्डान

12- पारसी हिन्दी रंगमंच- डा0 लक्ष्मीनारायण लाल

13- आलोचना नाटकांक सम्पादकीय- आचार्य नन्द दुलारे बाजपेई

14- हिन्दी के पौराणिक नाटक- डा0 देवर्षि सनाढ्य

15- हिन्दी रंगमंच और पंडित नारायण प्रसाद "बेताब"

16- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास- डा0 कृष्णलाल

17- भारतेन्दु युगीन नाट्य साहित्य- डा0 भानुदत्त शुक्ल

18- हिन्दी नाटककार- श्री जयनाथ नलिन

19- हिन्दी नाटक- डा0 बच्चन सिंह

20- हिन्दी साहित्य तृतीय खण्ड, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा निबंध-हिन्दी रंगमंच

21- जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन- डा0 शशिशेखर नैथानी

22- परम्पराशील नाट्य- जगदीशचन्द्र माथुर

23- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास- दशरथ ओझा

24- हिन्दी साहित्य का आदिकाल- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

25- हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा- कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह

26- हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास- डा0 सोमनाथ गुप्त

27- पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ- श्री कन्हैयालाल का निबंध-रासलीला का उद्भव और विकास

28- राधा वल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य- डा0 विजयेन्द्र स्नातक

29- हमारी नाट्य परम्परा- श्री कृष्णदास

30- डा0 विश्वनाथ प्रसाद- हिन्दी नाटक और रंगमंच

31- लोकधर्मी नाट्य परम्परा- डा0 श्याम परमार

32- हिन्दी लोकनाट्य का शैली शिल्पर- डा0 दशरथ ओझा

तृतीय अध्याय की सन्दर्भ पुस्तक सूची

1- नाटक और रंगमंच- राजकुमार

2- "ब्रेख्त का थियेटर", रंगमंच- बलवन्त गार्गी

3- भरत और भारतीय नाट्यकला- डा0 सुरेन्द्र नाथ दीक्षित

4- अभिनव भारती- अभिनव गुप्त कृत

5- भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप- डा0 राम गोविन्द चन्द्र

6- भरतकोश

7- "उमापति पारिजात हरण"- सं0 जार्ज ग्रियर्सन

8- यजुर्वेद

क्रमशः———3

9- पतंजलि महाकाव्य
10- कामसूत्र
11- अवदान शतक
12- राजप्रेसेनीय सूत्र
13- मालविकाग्निमित्र
14- अभिज्ञान शाकुन्तलम्- कालिदास कृत
15- विष्णु धर्मोत्तर पुराण
16- शिल्प रत्न
17- मानसार
18- संगीत रत्नाकर
19- भाव प्रकाशन
20- मृच्छकटिक- शूद्रक कृत
21- विक्रमोर्वशीय
22- रंगमंच- श्री सर्वदानंद

अध्याय-चार

हिन्दी रंगशिल्प का विकास

1- हिन्दी साहित्य- सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा
2- संस्कृति के चार अध्याय- रामधारी सिंह दिनकर
3- आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण- डा० रमेश कुंतल मेघ
4- हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
5- हिन्दी साहित्य- एक आधुनिक परिदृश्य- सच्चिदानंद वात्स्यायन
6- आधुनिक साहित्य- आचार्य नंददुलारे बाजपेयी
7- नाटक तथा रंग परिकल्पना- डा० गिरीश रस्तोगी
8- हिन्दी रंगमंच की नई दिशाएं- श्री गजानन शर्मा
9- भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य- डा० गोपीनाथ तिवारी

10- भारतेन्दु ग्रन्थावली
11- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- डा0 लक्ष्मीनारायण लाल
12- भारतेन्दु नाटकावली- बाबू ब्रजरत्न दास
13- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र- डा0 रामविलास शर्मा
14- भारतेन्दु का नाट्य साहित्य- वीरेन्द्र कुमार शुक्ल
15- भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच- डा0 वासुदेव नन्दन प्रसाद
16- भारत दुर्दशा
17- सम्मेलन पत्रिका
18- सरस्वती
19- "रणधीर प्रेममोहिनी"- श्री निवासदास
20- आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास- पं0 कृष्णशंकर शुक्ल
21- नाट्य शास्त्र, उपसंहार- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
22- विश्व इतिहास की झलक- पं0 जवाहर लाल नेहरू
23- "विशाख=-- जयशंकर प्रसाद
24- चिंतामणि- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
25- आलोचना
26- आधुनिक हिन्दी नाटक- डा0 नगेन्द्र
27- नया साहित्य-नये प्रश्न-आचार्य नंददुलारे बाजपेयी
28- रंगदर्शन- नेमिचन्द्र जैन
29- सुधा
30- कोणार्क- जगदीश चन्द्र माथुर
31- कविता के नये प्रतिमान- डा0 नामवर सिंह
32- अंधायुग- धर्मवीर भारती

LIST OF ENGLISH BOOKS

1. An Introduction of the study of Literature W.H. Hudson
2. The athenian stage: Translated by Paul
3. The Art of Theatre: Gordon Graig.
4. Aristotle's Poetics
5. Dr. Keith- Sanskrit Drama
6. A. Nicoll- The Development of the Theatre
7. Charles Hastings. The Theatre, translated by Ferancies A. Welby.
8. William K. Wimsott, litracy criticism. A short History.
9. Atttkins, The Poetics
10. S.H. Butcher, Aristotle's Poetics
11. Ronald Peacock, The Art of Drama
12. Sir G'jor Evans. A short History of English Literature
13. E.K. Chambers, The Elizabethan stage
14. Francies Fiergussan. The idea of Theatre.
15. Shekespear Hemlet
16. Henri Felachere, Shekespear
17. Montague Summer, The Restoration Theatre.
18. The great critics by cames Havy Smith and Edd Winfield Parks.
19. Calillo Pellizzi, English Drama (The Last Great Phase)
20. David Daiches, A Critical History of English Literature.
21. Cleanth Brooks. Understanding Drama
22. Arthwa Miller. Prejaceta Collected Plays.
23. Bamber Cascoigne Tweentieth Century Drama

Contd.....2

24. Mankad. Types of Sanskrit Drama

25. Our Theature today edited by Hershel R. Bricker

26. Huge Hunt, 'The Director in the Theatre'

27. The Theatre of the Hindus- Dr. V. Raghawan

28. D.R. Mankad, Hindu Theatre Indian Historical Quartery

29. Dr. C.B. Gupta 'Indian Theatre'

30. S.N. Tagore. 'The Eight Principal Rasas of Hindus'

31. Archacological Survey of Indian

32. Walter Raleight Shekespear.